उपदेशसाहस्री का समीक्षात्मक अध्ययन

Upadeshasahasri Ka Sameekshatmak Adhyayan

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री :
मधु श्रीवास्तव

पर्यवेक्षक :
प्रो० (डॉ०) सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव
एम० ए०, डी० फिल्०, शास्त्री
कुलपति, इ० वि० इलाहाबाद

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

1996

चैतन्यं सर्वगं सर्वं सर्वभूतगुहाशयम्।
यत्सर्वविषयातीतं तस्मै सर्वविदे नमः।।

– शङ्कराचार्य

(उपदेशसाहस्री–मङ्गलाचरण)

卐 निवेदन 卐

समस्त वेदान्त सम्प्रदायों में शङ्कराचार्य के अद्वैत-दर्शन को प्रमुख माना जाता है। अद्वैत वेदान्त दर्शन में मोक्ष का अर्थ आत्मा का ब्रह्म में विलीन हो जाना है। आत्मा वस्तुतः ब्रह्म है परन्तु अज्ञान के वशीभूत होकर वह अपने को ब्रह्म से पृथक् समझने लगता है। यही बन्धन है। मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से सम्भव है। मोक्ष को शङ्कराचार्य ने आनन्द की अवस्था कहा है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य जनसामान्य को आचार्य की इसी भावना से अवगत कराना है।

यह श्रद्धेय गुरुवर्य प्रो० (डॉ०) सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव (कुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) के असीम आशीर्वाद का ही फल है कि प्रस्तुत प्रबन्ध अपने इस स्वरूप को पा सका है। उनके निर्देशन एवं पथ-प्रदर्शन की छाया में "उपदेशसाहस्री" का विशद अध्ययन सम्भव हो सका है। अत्यन्त व्यस्तता के उपरान्त भी उन्होंने इस प्रयोजन के निमित्त अपना बहुमूल्य समय मुझे प्रदान किया है।

इस शोधकार्य के पूर्ण होने का पर्याप्त श्रेय संस्कृत विभाग के अन्य विद्वानों को भी जाता है। डॉ० ज्ञान देवी श्रीवास्तव (विभागाध्यक्षा), डॉ० रामकिशोर शास्त्री, डॉ० कौशल किशोर श्रीवास्तव

एवं डॉ० गायत्री शुक्ला के साहाय्य के अभाव में इस कार्य का सम्पूर्ण होना अत्यन्त कठिन था। मेरे पति श्री अशोक श्रीवास्तव ने भी इस कार्य के लिए मुझे सहयोग एवं प्रोत्साहन प्रदान किया है यद्यपि वे तकनीकी क्षेत्र से सम्बन्धित हैं।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष के प्रति मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने मुझे पर्याप्त सौविध्य प्रदान करके इस कार्य में प्रोत्साहित किया है। मैं चौखम्बा विद्याभवन, संस्कृतभवन, वाराणसी के व्यवस्थापकों के प्रति भी आभारी हूँ जिन्होंने मुझे विभिन्न सहायक ग्रन्थों की आपूर्ति डाक द्वारा अविलम्ब प्रदान की है।

प्रस्तुत प्रबन्ध दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में मेरा प्रथम प्रयास है जो विद्वन्मूर्धन्यों के समक्ष परीक्षणार्थ प्रस्तुत है।

संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

निवेदिका
मधु श्रीवास्तव
(मधु श्रीवास्तव)

ꖦ संकेत सूची ꖦ

अ. को.	अमरकोशः
ब्र. सू. शा. भा.	ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य
ब्र. सू. म. भा.	ब्रह्मसूत्र मध्व भाष्य
ब्र. सू. नि. भा.	ब्रह्मसूत्र निम्बार्क भाष्य
ब्र. सू. रा. भा.	ब्रह्मसूत्र रामानुज भाष्य
ब्र. सू. व. भा.	ब्रह्मसूत्र वल्लभ भाष्य
भा. द.	भारतीय दर्शन
गी.	श्रीमद्भगवद्गीता
महा.	महाभारत
मा. सू.	माध्यमिक सूत्र
ई.उ.	ईशावास्योपनिषद्
बृ. उ.	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृ. भा. वा.	बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक
क. उ.	कठोपनिषद्
के. उ.	केनोपनिषद्
मा. उ.	माण्डूक्योपनिषद्
मु. उ.	मुण्डकोपनिषद्
प्र. उ.	प्रश्नोपनिषद्
श्वे. उ.	श्वेताश्वरोपनिषद्

छा. उ.	छान्दोग्योपनिषद्
तै. उ.	तैत्तरीय उपनिषद्
तै. आ.	तैत्तरीय आरण्यक
सू.स.	सूत संहिता
उ. सा.	उपदेशसाहस्री
वि. चू.	विवेकचूड़ामणि
वे. सि. मु. पृ.	वेदान्त सिद्धान्त मुखपृष्ठ
वे. सा.	वेदान्तसार

ॐ विषय-सूची ॐ

ॐ प्रथम अध्याय ॐ

विषय-प्रवेश (Introduction) :

(क) उपदेशसाहस्री का विवरणात्मक परिचय

(ख) ग्रन्थ कर्त्तृत्व का निर्णय

(ग) ग्रन्थकार का परिचय

विषय-प्रवेश

(Introduction)

दर्शन का भावार्थ –

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। सोचना मनुष्य का विशिष्ट गुण है। इसी गुण के फलस्वरूप वह पशुओं से भिन्न समझा जाता है। विवेक अर्थात् बुद्धि की प्रधानता रहने के फलस्वरूप मानव विश्व की विभिन्न वस्तुओं को देखकर उनके स्वरूप को जानने का प्रयास करता रहा है। मनुष्य की बौद्धिकता उसे अनेक प्रश्नों का उत्तर जानने के लिए बाध्य करती रही है। मानव मस्तिष्क में उमड़ने वाले प्रमुख प्रश्न इस प्रकार हैं –

आत्मा क्या है? जीव क्या है? ईश्वर है या नहीं? ईश्वर का स्वरूप क्या है? ईश्वर के अस्तित्त्व के क्या प्रमाण हैं? जीवन का चरम लक्ष्य क्या है? सत्ता का स्वरूप क्या है? ज्ञान का साधन क्या है? शुभ और अशुभ क्या है? उचित और अनुचित क्या है? व्यक्ति और समाज में सम्बन्ध क्या है? इत्यादि-इत्यादि।

दर्शन इन प्रश्नों का युक्तिपूर्ण ढंग से उत्तर देने का प्रयास है। दर्शन में इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए भावना या विश्वास

का सहारा नहीं लिया जाता, बल्कि बुद्धि का प्रयोग किया जाता है।

भारतीय दर्शन –

भारत में दर्शन उस विद्या को कहा जाता है जिसके द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार हो सके। भारतीय दर्शन केवल तत्त्व की भौतिक व्याख्या से संतुष्ट नहीं होता, बल्कि वह तत्त्व की अनुभूति प्राप्त करना चाहता है। भारतीय दर्शन में अनुभूतियाँ दो प्रकार की मानी गयी हैं –

(1) ऐन्द्रिय (Sensuous)

(2) अनैन्द्रिय (Non-Sensuous)

इन दोनों अनुभूतियों में अनैन्द्रिय अनुभूति जिसे आध्यात्मिक अनुभूति भी कहते हैं, महत्त्वपूर्ण है। भारतीय विचारों के अनुसार तत्त्व का साक्षात्कार आध्यात्मिक अनुभूति से ही संभव है। आध्यात्मिक अनुभूति बौद्धिक ज्ञान से उच्च है। बौद्धिक ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय के बीच द्वैत विद्यमान रहता है, परन्तु आध्यात्मिक अनुभूति में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नष्ट हो जाता है। चूँकि भारतीय दर्शन तत्त्व के साक्षात्कार में आस्था रखता है, इसलिए इसे ''तत्त्व दर्शन'' भी कहा जाता है।

भारतीय दर्शन को व्यावहारिक दर्शन भी कहा जा सकता है। भारत में जीवन की समस्याओं को हल करने के लिए ही दर्शन

का सृजन हुआ है। जब मानव ने अपने को दुःखों के आवरण से घिरा हुआ पाया, तब उसने पीड़ा और क्लेश से छुटकारा पाने की कामना की और इस प्रकार दुःखों से निवृत्ति के लिए उसने दर्शन को अपनाया। इसीलिए प्रो० हिरियन्ना ने कहा है - "भारतीय दर्शन का आरम्भ पाश्चात्य दर्शन की भाँति आश्चर्य एवं उत्सुकता से न होकर जीवन की नैतिक एवं भौतिक बुराइयों के शमन के निमित्त हुआ था। भारतीय दार्शनिक प्रयत्नों का मूल उद्‌देश्य जीवन के दुःखों का अन्त ढूढ़ना रहा है और तात्त्विक प्रश्नों का प्रादुर्भाव इसी सिलसिले में हुआ।"[1]

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में ज्ञान की चर्चा केवल ज्ञान के लिए न होकर मोक्षानुभूति के लिए हुयी है। मोक्ष का अर्थ है दुःखों से निवृत्ति। अतः भारतीय दर्शन का अनुशीलन मोक्ष के लिये ही किया गया है। दुःखाभाव अर्थात् मोक्ष को परम लक्ष्य मानने के फलस्वरूप भारतीय दर्शन को "मोक्ष-दर्शन" भी कहा जाता है। मोक्ष की प्राप्ति आत्मा के द्वारा मानी गयी है, यही कारण है कि चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शनों में आत्मा का अनुशीलन हुआ है। आत्मा के स्वरूप की व्याख्या भारतीय दर्शन के आध्यात्मवाद का प्रमाण है। भारतीय

1. Outlines of Indian Philosophy (page 18-19)

दर्शन को, आत्मा की परम महत्ता प्रदान करने के कारण, कभी-कभी ''आत्मविद्या'' भी कहा जाता है। व्यावहारिकता और आध्यात्मिकता भारतीय दर्शन की विशेषतायें हैं।

वेदान्त दर्शन -

भारत में जितने दर्शनों का विकास हुआ है, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण दर्शन, वेदान्त-दर्शन को ही माना गया है। इसकी महत्ता इस बात से भी प्रतिपादित होती है कि यूरोप के विद्वान बहुत समय तक भारतीय दर्शन का अर्थ वेदान्त-दर्शन ही समझते रहे हैं। वेदान्त-दर्शन का आधार उपनिषद् कहा जाता है। उपनिषद्, वेदों* के अन्तिम अंग होने के कारण वेदान्त (वेद+अन्त) कहे जाते हैं। बाद में चलकर उपनिषदों से जितने दर्शन विकसित हुए उन सभी को वेदान्त की संज्ञा से विभूषित किया गया। वेदान्त दर्शन का आधार बादरायण का 'ब्रह्मसूत्र' कहा जाता है। ब्रह्मसूत्र उपनिषदों के विचारों में सामन्जस्य लाने के उद्देश्य से ही लिखा गया था। उपनिषदों की संख्या अनेक थीं तथा उपनिषदों की शिक्षा को लेकर विद्वानों में मतभेद था। कुछ विद्वानों का मत था कि उपनिषद् ''एकवाद'' (Monism) की शिक्षा है तो कुछ विद्वानों का मत था कि उपनिषद् ''द्वैतवाद''

---

* वेद चार हैं - (1) ऋग्वेद, (2) यजुर्वेद, (3) सामवेद, (4) अथर्ववेद। प्रत्येक वेद के तीन अंग हैं - संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद्।

(Dualism) की शिक्षा देते हैं। बादरायण ने दृष्टिकोणों के इस विरोधाभास को दूर करने के लिए ब्रह्मसूत्र की रचना की। उन्होंने बताया कि सभी उपनिषद् विचार एक मत हैं। उपनिषद् की उक्तियों में जो विषमता दीख पड़ती है वह उपनिषदों को ठीक से न समझने के कारण ही है। 'ब्रह्मसूत्र' को 'वेदान्त सूत्र' भी कहा जाता है क्योंकि वेदान्त-दर्शन ब्रह्मसूत्र से ही प्रतिफलित हुआ है। ब्रह्मसूत्र के चार अध्याय हैं। पहले अध्याय में ब्रह्म विषयक विचार हैं। दूसरे अध्याय में पहले अध्याय की बातों का तर्क द्वारा पुष्टिकरण हुआ है तथा विरोधी दर्शनों का खण्डन भी हुआ है। तीसरे अध्याय साधना से सम्बन्धित सूत्र हैं तथा चौथे अध्याय में में मुक्तिफलों के सम्बन्ध में चर्चा है।

लेकिन ब्रह्मसूत्र संक्षिप्त और दुर्बोध थे जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकार की शंकायें उत्पन्न हुई तथा इन शंकाओं के समाधान की आवश्यकता महसूस हुई। इस उद्देश्य से अनेक भाष्यकारों ने ब्रह्मसूत्र पर अपना अलग-अलग भाष्य लिखा। प्रत्येक भाष्यकार ने अपने भाष्य की पुष्टि के निमित्त वेद और उपनिषद् में वर्णित विचारों का उल्लेख किया। जितने भाष्यकार हुए उतना ही वेदान्त दर्शन का सम्प्रदाय विकसित हुआ। इस प्रकार वेदान्त-दर्शन के अनेक सम्प्रदाय विकसित हुए और शङ्कर, रामानुज, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्क

आदि इन सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक बन गये। वेदान्त दर्शन के विकसित विभिन्न सम्प्रदायों में से प्रमुख चार सम्प्रदाय इस प्रकार हैं –

(1) अद्वैतवाद (Non-Dualism)

(2) विशिष्टाद्वैतवाद (Qualified Monism)

(3) द्वैतवाद (Dualism)

(4) द्वैताद्वैत (Dualism cum Non - Dualism)

शाङ्कर दर्शन –

"अद्वैतवाद" (Non-Dualism) के प्रवर्त्तक शङ्कराचार्य हैं। शङ्कर का अद्वैत दर्शन, वेदान्त-दर्शन का प्रधान दर्शन कहा जाता है। शङ्कर की गणना भारत के श्रेष्ठतम विचारकों में की जाती है। इसका कारण यह है कि शङ्कर में आलोचनात्मक और सृजनात्मक प्रतिभा समान रूप से है। तर्क-बुद्धि की दृष्टि से शङ्कर का अद्वैतवाद भारतीय दर्शनाकाश को निरन्तर आलोकित करता रहेगा। शङ्कर का दर्शन आधुनिक काल के यूरोपीय तथा भारतीय दार्शनिकों को प्रभावित करने में सफल रहा है। जहाँ एक ओर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, डॉ॰ राधाकृष्णन्, महर्षि अरविन्द तथा स्वामी विवेकानन्द के अद्वैत दर्शन पर शङ्कर के अद्वैतवाद का स्पष्ट प्रभाव दिखायी पड़ता है वहीं दूसरी ओर स्पीनोजा और ब्रेडले के दर्शन में भी हम शङ्कर के

विचारों की प्रतिध्वनि पाते हैं। शङ्कर के दर्शन की व्याख्या करते हुए डॉ० राधाकृष्णन् कहते हैं – "उनका दर्शन सम्पूर्ण रूप में उपस्थित है जिसमें न पूर्व की आवश्यकता है न अपर की,... चाहे हम सहमत हो अथवा नहीं, उनके मस्तिष्क का प्रकाश हमें आलोकित किये बिना नहीं छोड़ता।"[2] चार्ल्स इलियट ने कहा है – "शङ्कर का दर्शन संगति, पूर्णता और गम्भीरता में प्रथम स्थान रखता है।"[3]

शङ्कर ने उपनिषद् की एकतत्त्ववादी प्रवृत्ति को अद्वैतवाद के रूप में रूपान्तरित किया है। शङ्कर ने ब्रह्म को परम सत्य माना है तथा ब्रह्म की व्याख्या निषेधात्मक ढंग से की है। शङ्कर ने यह नहीं बताया है कि ब्रह्म क्या है, बल्कि यह बतलाया है कि ब्रह्म क्या नहीं है। ब्रह्म की व्याख्या के लिए उन्होंने नेति-नेति को आधार माना है।[4] निषेधात्मक प्रवृत्ति शङ्कर के दर्शन में इतनी तीव्र है कि वह ब्रह्म को एक कहने की बजाय 'अद्वैत' कहते हैं। शङ्कर का विचार है कि भावनात्मक शब्द ब्रह्म को सीमित करते हैं। अतः वह निर्गुण निराकार ब्रह्म को भावनात्मक शब्दों में

---

2. Indian Philosophy Vol. II (page 446-447)
3. Hindusim and Buddhism Vol.II (page 208)
4. प्रतिषेद्धुमशक्यंत्वान्नेति नेतीति शेषितम्।
   इदं नाहमिदं नाहमित्यद्धा प्रतिपद्यते।। (उ०सा० 2/1)

बाँधने का प्रयास नहीं करते हैं। शङ्कर का अद्वैत दर्शन ब्रह्म को छोड़कर किसी अन्य सत्ता को नहीं मानता है। इसके अनुसार ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है तथा ईश्वर, जगत्, सृष्टि, जीव इत्यादि की सत्यता का खण्डन हुआ है। शङ्कर में अद्वैतवादी प्रवृत्ति इतनी तीव्र है कि उन्होंने माया को भी असत्य माना है क्योंकि माया को सत्य मानने से शङ्कर के दर्शन में द्वैतवाद चला आता। शङ्कर ने स्वयं सांख्य के द्वैतवाद की कटु आलोचना की है जो कि शङ्कर के अद्वैतवाद का परिचायक है। शङ्कर ने आत्मा और ब्रह्म, ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध की व्याख्या इस ढंग से की है जिससे उनका अद्वैतवाद का समर्थक होना सिद्ध होता है। शङ्कर के अनुसार जिस प्रकार अग्नि और उसकी चिनगारियाँ अभिन्न हैं उसी प्रकार जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं। आत्मा और ब्रह्म एक ही वस्तु के दो नाम हैं अर्थात् आत्मा और ब्रह्म में अभेद है। शङ्कर ने मोक्ष के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहा है कि मोक्षावस्था में जीव ब्रह्म में विलीन हो जाता है। वह ब्रह्म के सदृश नहीं होता, बल्कि स्वयं ब्रह्म से एकाकार हो जाता है। इस प्रकार दोनों के बीच जो द्वैत अज्ञान के कारण रहता है उस द्वैत का अन्त हो जाता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि शङ्कराचार्य का दर्शन, भारतीय

दर्शन की मूलानुभूति के अनुकूल है। समग्र भारतीय दर्शन का चरम उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति में साहाय्य प्रदान करना है, जो कि शङ्कर के दर्शन ने बहुत ही अच्छे ढंग से फलीभूत किया है। वेदान्त-दर्शन के क्षेत्र में शङ्कराचार्य का भाष्य-प्रणयन का प्रयास सबसे पहला और सर्वोत्तम है। इस प्रकार भाष्य लेखन विद्या के मूल प्रवर्त्तक शङ्कर ही हैं। शङ्कराचार्य ने मायावाद की स्थापना के द्वारा अद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन करके उपनिषदों के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों में एकता स्थापित कर दी। आचार्य की यह समन्वयवादिता भारतीय दर्शन के क्षेत्र में बेजोड़ है। अद्वैतवाद की चर्चा भारतीय दर्शन का प्राण है।

उक्त विचार दृष्टि से यह प्रतीत होता है कि भारतीय दर्शन के क्षेत्र में शङ्कराचार्य जैसा अद्भुत कार्य किसी अन्य दार्शनिक ने नहीं किया है। इस प्रकार भारतीय दार्शनिकों में शङ्कराचार्य सर्वोच्च हैं और उनके दर्शन की कतिपय विशेषतायें पाश्चात्य दर्शन-वेत्ताओं के लिए भी अनुकरणीय रही हैं।

(क) उपदेशसाहस्री का विवरणात्मक परिचय

शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों में अद्वैत सिद्धान्तों की विशद व्याख्या की है। इन भाष्यों की भाषा अत्यन्त सुष्ठु एवं प्राञ्जल

है परन्तु इनमें प्रयुक्त युक्तियाँ और तर्क बहुत गम्भीर और पाण्डित्य पूर्ण हैं। अतः सामान्य लोगों को इन्हें समझने में कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है। भाष्यग्रन्थों की इस प्रकार की गम्भीरता के समाधान के लिए शङ्कराचार्य ने अनेक प्रकरणग्रन्थों की रचना करके वेदान्त सिद्धान्त को सर्वसुलभ बनाया। शास्त्रीय दृष्टि से प्रकरण ग्रन्थ एक पारिभाषिक शब्द है जिसका लक्षण इस प्रकार है –

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्

आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः।[5]

अर्थात् किसी शास्त्र के एक अंग का प्रतिपादन करने वाले तथा प्रयोजनानुसार दूसरे शास्त्रों के भी उपयोगी अंश को ग्रहण करने वाले ग्रन्थभेद को विद्वान लोग प्रकरण ग्रन्थ कहते हैं।

शङ्कराचार्य द्वारा रचित प्रकरण ग्रन्थों में वेदान्त के साधनभूत विवेक, वैराग्य, त्याग, शम, दम, श्रद्धा, उपरति व तितिक्षा आदि का सुन्दर विवेचन किया गया है। साथ ही अद्वैत के मूल सिद्धान्तों की भी संक्षेप में स्पष्ट व्याख्या की गई है। मुख्यतः अद्वैत विद्या का पावन सन्देश सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिए शङ्कराचार्य ने प्रकरणग्रन्थों

---

5. पराशरोपपुराण (18/21,22) तथा 'कैवल्यरत्न' (पृष्ठ 45)

की रचना की है, ऐसा प्रतीत होता है। शङ्कराचार्य रचित इन प्रकरणग्रन्थों की कुल संख्या इक्कीस है[6] लेकिन इनमें से अधिकतर प्रकरण ग्रन्थ अत्यन्त संक्षिप्त हैं और इनमें समस्त वेदान्त दर्शन का समावेश नहीं हो सका है। उदाहरण के लिए 'अपरोक्षानुभूति' में कुल एक सौ चौवालिस श्लोक हैं तथा इसमें केवल अपरोक्ष अनुभव के साधन तथा स्वरूप को ही स्पष्ट किया गया है। 'आत्मबोध' में मात्र अड़सठ श्लोक हैं तथा इसमें आत्मा के स्वरूप का ही वर्णन किया गया है। 'तत्त्वोपदेश' में कुल सत्तासी श्लोक हैं तथा इसमें मुख्यरूप से 'तत् एवं त्वं' पदों के अर्थ का वर्णन किया गया है एवं गुरु के उपदेश से आत्मतत्त्व की अनुभूति का भी वर्णन है। 'प्रौढानुभूति' में केवल सत्रह पदों में आत्मतत्त्व का वर्णन है। 'ब्रह्मज्ञानावली' में केवल बीस श्लोक हैं तथा इसमें ब्रह्मज्ञान के स्वरूप का वर्णन सरल एवं सुबोध शैली में किया गया है। 'लघुवाक्यवृत्ति' में मात्र अठारह पद्यों में जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया गया है। 'वाक्यवृत्ति' में केवल तिरपन श्लोकों द्वारा तत् एवं त्वं पदों के अर्थ (वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ) का निरूपण किया गया है। 'शतश्लोकी' में वेदान्त के सिद्धान्त का विवेचन सौ श्लोकों के द्वारा किया गया है। 'विवेकचूड़ामणि' में पाँच सौ इक्यासी श्लोक हैं तथा इसमें वेदान्त

---

6. श्रीशङ्कराचार्यविरचितग्रंथसंग्रहः (प्रकरणग्रंथाः) - संपादक श्री हरिरघुनाथ भागवत

के प्रमुख सिद्धान्त ''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'' का प्रतिपादन किया गया है। 'स्वात्मनिरूपण' में एक सौ चौवन श्लोक हैं तथा इसमें गुरु-शिष्य संवाद के रूप में आत्मतत्त्व का विवेचन किया गया है। 'अद्वैतानुभूति' में चौरासी श्लोकों द्वारा अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन मिलता है। 'दशश्लोकी' अत्यन्त संक्षिप्त प्रकरण ग्रन्थ है इसमें मात्र दस श्लोकों द्वारा परमब्रह्म का वर्णन किया गया है। 'प्रबोधसुधाकर' में दो सौ सत्तावन श्लोक हैं तथा इसमें वेदान्त तत्त्व का सरल भाषा में सुन्दर निरूपण किया गया है। 'प्रश्नोत्तर रत्नमलिका' में सरसठ श्लोक हैं तथा इसमें में प्रश्नोत्तर के रूप में वेदान्त उपदेश दिये गये हैं। 'ब्रह्मानुचिन्तनम्' में उन्तीस श्लोक हैं तथा ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन है। 'मोह मुद्‌गर' में इकत्तीस श्लोक हैं तथा इसमें संसार की नश्वरता का वर्णन किया गया है। 'योगतारावली' में उनतीस पद्यों द्वारा हठयोग तथा राजयोग का प्रामाणिक वर्णन प्राप्त होता है। 'स्वात्मप्रकाशिका' में अड़सठ श्लोक हैं तथा इसमें आत्मरूप का सुबोध तथा सुन्दर निरूपण मिलता है। 'सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह' में एक हजार छः श्लोक हैं तथा इसमें गुरु-शिष्य संवाद के रूप में वेदान्त का सुन्दर वर्णन किया गया है। 'सदाचारानुसंधानम्' में पचपन श्लोक हैं, इसमें चित् तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

उपर्युक्त वर्णित प्रकरण ग्रन्थों की श्रृंखला में 'उपदेशसाहस्री'

शङ्कराचार्य रचित मुख्य प्रकरण ग्रन्थ प्रतीत होता है क्योंकि इसमें अत्यन्त गम्भीर रीति से अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन होने के साथ-साथ सम्पूर्ण शास्त्रार्थ का संग्रह भी है। इस ग्रन्थ में गद्य एवं पद्य दोनों प्रकार की विधाओं का प्रयोग किया गया है ताकि समग्र वेदान्त दर्शन को सम्पूर्णता के साथ व्याख्या के आयाम प्रदान किये जा सकें। उपदेशसाहस्री के पद्य भाग में कुल छः सौ चौहत्तर श्लोक हैं और गद्य भाग में कुल एक सौ सौलह अनुच्छेद हैं। इस प्रकार श्लोकों और अनुच्छेदों की संख्या सहस्र से कम होने पर भी शङ्कराचार्य ने इस ग्रन्थ को 'उपदेशसाहस्री' का शीर्षक प्रदान किया है क्योंकि ग्रन्थ के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इसमें सहस्र उपदेश निहित हैं।

'उपदेशसाहस्री' में विभिन्न प्रकरणों की संरचना ग्रन्थ को विविधता एवं व्यापकता प्रदान करती है। ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध भाग में कुल उन्नीस प्रकरण हैं तथा उत्तरार्द्ध भाग में केवल तीन प्रकरण हैं। पूर्वार्द्ध भाग में वेदान्त के अर्थ का सूक्ष्म रूप से निरूपण विभिन्न प्रकरणों के रूप में किया गया है तथा उत्तरार्द्ध भाग में गुरु द्वारा शिष्य को मोक्ष प्राप्ति का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ इस बात का भी अहसास कराता है कि वेदान्त सिद्धान्तों को समझने के बाद व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है अतः वेदान्त दर्शन को समझने के पश्चात् ही मोक्ष की कामना

करनी चाहिए। ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध भाग के अन्तर्गत जिन प्रकरणों का उल्लेख है उनका क्रमानुसार विवरण इस प्रकार है –

उपोद्घातप्रकरण, प्रतिषेधप्रकरण, ईश्वरात्मप्रकरण, तत्त्वज्ञानस्वभावप्रकरण, बुद्ध्यपराधप्रकरण, विशेषापोहप्रकरण, बुद्ध्यारूढ़प्रकरण, मतिविलापनप्रकरण, सूक्ष्मताव्यापिताप्रकरण, दृशिस्वरूपपरमार्थदर्शनप्रकरण, ईक्षितृत्वप्रकरण, प्रकाशप्रकरण, अचक्षुष्ट्वप्रकरण, स्वप्नस्मृतिप्रकरण, नान्यदन्यत्प्रकरण, पार्थिवप्रकरण, सम्यङ्मतिप्रकरण, तत्त्वमसिप्रकरण और तृष्णाज्वरनाशकप्रकरण।

ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध भाग में निम्नलिखित तीन प्रकरण हैं –

शिष्यानुशासनप्रकरण, कूटस्थाऽद्वयात्मबोधप्रकरण और परिसंख्यानप्रकरण।

यद्यपि उपदेशसाहस्री के उपर्युक्त वर्णित प्रकरणों में वेदान्त ज्ञान के सम्पूर्ण तत्त्वों का समावेश है तथापि ग्रन्थ के प्रत्येक प्रकरण में आत्मतत्त्व का ज्ञान अवश्य कराया गया है। वास्तव में आनन्द ही आत्मा का स्वरूप है। समस्त चेष्टाओं की निवृत्ति ही उसके प्रकाशित होने का स्थान है। सुखरूप अनुकूल संवेदन में प्राप्त इस आनन्द के आभास मात्र के सम्पादन की प्रवृत्ति सभी पुरुषों में दिखायी देती है। परन्तु यह सुख की अनुभूति विषय सापेक्ष ही होती है। किसी भी सांसारिक वस्तु का संयोग आत्मा के लिए

वस्तुतः सुखप्रद नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा का स्वरूपभूत आनन्द इतरनिरपेक्ष होता है। ईश्वर अथवा ब्रह्म को ही सुखस्वरूप जानकर और स्वयं को उससे पृथक् समझकर उसके संयोग हेतु किया गया प्रयास ही आत्मशुद्धि में हेतु बनता है क्योंकि आत्मा अपरिच्छिन्न, नित्य और अद्वय है।[7] आत्मा में जन्म-मरण, काम-क्रोध, संयोग-वियोग का सर्वथा अभाव है।[8] इस प्रकार सुदृढ बोध होने पर आत्मज्ञ पुरुष को किसी से किसी प्रकार का भय और काम-क्रोधादि से क्षति नहीं हुआ करती।[9]

आत्मतत्त्व की इस प्रक्रिया को व्यापक रूप से स्पष्ट करके, अविद्याग्रस्त मनुष्यों का मार्ग दर्शन करने हेतु आचार्य शङ्कर ने 'उपदेशसाहस्री' की रचनाकर मानवमात्र को अनुग्रहीत किया है। जब तक मनुष्य अपने को ही विस्मृत किए रहता है तब तक वह इस जन्म-मरण रूप संघर्षात्मक संसार में फँसा रहता है। शङ्कराचार्य ने मानव की इस दुर्दशा को देखकर उसके उद्धारार्थ 'उपदेशसाहस्री' के रूप में मानो संजीवनी औषधि प्रदान कर दी है जिसके अध्ययन और अनुसरण

7. मदन्यः सर्वभूतेषु बोद्धा कश्चिन्न विद्यते।
कर्माध्यक्षश्च साक्षी च चेता नित्योऽगुणोऽद्वयः।। (उपदेशसाहस्री 13/19)
8. अजोऽमरश्चैव तथाऽजरोऽमृतः स्वयंप्रभः सर्वगतोऽहमद्वयः।
न कारणं कार्यमतीव निर्मलः सदैकतृप्तश्च ततो विमुक्त ॐ।।
(उपदेशसाहस्री 10/3)
9. यस्माद्भीताः प्रवर्तन्ते वाङ्मनःपावकादयः।
तदात्मानन्दतत्त्वज्ञो न बिभेति कुतश्चन।। (उपदेशसाहस्री 17/63)

से सभी मुमुक्षु भवरोगों से मुक्त हो गये हैं।

(ख) ग्रन्थ कर्त्तृत्व का निर्णय –

आद्य शङ्कराचार्य द्वारा लिखित ग्रन्थों का निर्णय करते समय एक विषम परिस्थिति का सामना करना पड़ता है क्योंकि उनके देहावसान के उपरान्त सभी मठाधीश शङ्कराचार्यों ने उन्हीं के नाम से ग्रन्थ लिखने आरम्भ कर दिये। ऐसा वास्तव में भारतीय लेखकों की उस परम्परा के कारण हुआ होगा, जिसके द्वारा वे बाद के ग्रन्थों को अतीत के लेखकों के द्वारा लिखित बताकर उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाते थे। व्यास को समस्त पुराणों का लेखक बताना इस बात को अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता है।

कदाचित् शङ्कराचार्य के गुरु भगवत्पाद गोविन्दाचार्य के संकेत से शङ्कर रचित ग्रन्थों का ज्ञान संभव था, किन्तु बाद के मठाधीश शङ्कराचार्यों ने भी भगवत्पाद गोविन्दाचार्य को ही अपने गुरु के स्थान पर विराजित करके इस कसौटी को भी निष्फल बना दिया। फिर भी आद्य शङ्कराचार्य द्वारा रचित सर्वमान्यता प्राप्त ग्रन्थों के साथ शेष ग्रन्थों का अन्तरंग परीक्षण करके यह निर्धारित किया जा सकता है कि अमुक ग्रन्थ आचार्य शङ्कर द्वारा रचित है अथवा नहीं?

ग्रन्थों के अन्तरंग परीक्षण की दृष्टि से "उपदेशसाहस्री" के ग्रन्थ कर्त्तृत्व को परखने के लिए निम्नलिखित तीन कसौटियाँ निर्धारित की जा सकती हैं -

(i) भाषा-शैली विश्लेषण

(ii) श्रुति-स्मृति उद्धरण

(iii) अनुबन्धचतुष्टय निरूपण

(i) भाषा-शैली विश्लेषण -

वेदान्तदर्शन की आधार-भूमि उपनिषदों में वर्णित तत्त्व को माना जाता है जिसको बादरायण ने ब्रह्मसूत्र के सार रूप में सूत्रों के माध्यम से स्पष्ट किया है। इस ब्रह्मसूत्र की अनेक प्रकार से व्याख्या की गयी है किन्तु शङ्कर का भाष्य सबसे अधिक विद्वतापूर्ण और प्रामाणिक माना जाता है।

भाषा विश्लेषण की दृष्टि से ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य और उपदेशसाहस्री का तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि दोनों ही ग्रन्थों की भाषा सरल और प्राञ्जल है[10] भाषा में बोझिलता न आने पाये इसका विचार शङ्कर के मस्तिष्क में आद्योपाँत रहता है और

10.अ. आत्मत्वादेव च सर्वेषां न हेयो नाप्युपादेयः। (ब्र.सू.शा.भा. 1/1/4)
ब. न मे हेयं न चादेयमविकारी यतो ह्यहम्। (उपदेशसाहस्री 13/24)

इसीलिए इन ग्रन्थों में जटिल एवं गूढ़ शब्दावली का न्यूनतम प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि भाषा की उपरोक्त वर्णित सरलता विषय के गाम्भीर्य को कहीं पर भी प्रभावित नहीं होने देती है।

शङ्कराचार्य अपने विषय को स्पष्ट करने एवं तर्कों को बल प्रदान करने के लिए बोधगम्य शैली का प्रयोग करते हैं। इसीलिए उनकी प्रामाणिक रचनाओं में दृष्टान्तों का प्रयोग स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। दृष्टान्तों में मुख्य रूप से सर्प एवं रज्जु, घट, मृत्तिका, आकाश, समुद्र एवं जादूगर आदि का प्रयोग किया गया है। इन दृष्टान्तों में से सर्प एवं रज्जु का प्रयोग हमें ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य, विवेकचूड़ामणि, अपरोक्षानुभूति, माण्डूक्य कारिका शाङ्कर भाष्य के साथ-साथ उपदेशसाहस्री में भी देखने को मिलता है।[11] विभिन्न ग्रन्थों में प्रयुक्त एक जैसे दृष्टान्त इन ग्रन्थों को एक ही रचनाकार की कृति होने का स्पष्ट प्रमाण देते हैं। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि भाषा एवं शैली के आधार पर 'उपदेशसाहस्री' शङ्कराचार्य द्वारा रचित ग्रन्थ है।

11.क. रज्जुरियं नायं सर्पः इतिवस्तुमात्र कथनेऽपि प्रयोजनस्य दृष्टित्वात् (ब्र.सू.शा.भा. 1/1/4)
ख. रज्ज्वां सर्पो भ्रान्तिकालीन एव
भ्रान्तेर्नाशे नैव सर्पोऽपि तद्वत्।। (विवेकचूड़ामणि 199)
ग. रज्जुरूपे परिज्ञाते सर्पभ्रान्तिर्न तिष्ठति (अपरोक्षानुभूति 96)
घ. रज्ज्वां सर्प इव कल्पितत्वान्न तु स विद्यते.................न हि रज्ज्वां भ्रान्तिबुद्धयाकल्पितः सर्पो विद्यमानः सन्विवेकतो निवृत्तः तथेंद प्रपञ्चाख्यं मायामात्रम्। (मा.उ.शा.भा. 1/17)
ङ. रज्जुसर्पो यथा रज्ज्वा सात्मकः प्राग्विवेकतः
अवस्तुसन्नपि ह्येष कूटस्थेनात्मना तथा।। (उपदेशसाहस्री 18/46)

(ii) श्रुति-स्मृति उद्धरण -

आद्य शङ्कराचार्य रचित प्रामाणिक ग्रन्थों एवं भाष्यों के अनुशीलन के पश्चात् यह प्रतीत होता है कि शङ्कर अपने विचारों को उपनिषदों के साथ सम्बद्ध करना चाहते थे। शङ्कर के दर्शन पर उपनिषदों के अगाध प्रभाव को देखकर यह कहा जा सकता है कि उपनिषदों में शङ्कर के दर्शन के लगभग सभी बीज विद्यमान है।[12] प्रो. पॉल ड्यूसन ने ठीक ही कहा है कि "शङ्कर के दर्शन का उपनिषदों से वही सम्बन्ध है जो फल का फूल से है, क्योंकि भारतीय प्रज्ञान के वृक्ष पर उपनिषदों से अच्छा पुष्प और वेदान्तदर्शन से अच्छा कोई फल नहीं है। अतः इस दर्शन का जन्म उपनिषदों की शिक्षाओं से ही हुआ है और शङ्कर ने इसे इसके उत्कृष्टतम स्तर पर पहुँचाया है।"[13]

शङ्कर ने अपने प्रत्येक विषय को स्पष्ट करने के लिए श्रुतियों एवं स्मृतियों का सहारा लिया है। शङ्कर द्वारा किये गये ब्रह्मसूत्र भाष्य एवं गीता भाष्य में उपनिषदों के चौदह सौ पचास उद्धरण मिलते हैं।[14] इन शङ्कररचित भाष्यों से उपदेशसाहस्री की तुलना करने

12. The Lectures on the Vedanta Philosophy (Page 135)
13. Outlines of Vedanta System of Philosophy (Pre-face)
14. आचार्य शङ्करः ब्रह्मवाद (डॉ. राम स्वरूप सिंह नौलखा, पेज 55)

पर हम पाते हैं कि उपदेशसाहस्री के गद्य और पद्य दोनों भागों में कुल मिलाकर तीन सौ अड़सठ बार उपनिषदों की श्रुतियों का प्रयोग किया गया है।

श्रुतियों के साथ-साथ मनुस्मृति, महाभारत व गीता जैसे स्मृतिग्रन्थों का भी शङ्कर के दर्शन को संवारने में योगदान रहा है। इसीलिए तो शङ्कर अपने विचारों की पुष्टि के लिए इन्हें बार-बार उद्धृत करते हैं। शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में श्रीमद्भगवद्गीता को उन्चास बार, महाभारत को चौदह बार और मनुस्मृति को दस बार उद्धृत किया है।[15] इस दृष्टि से उपदेशसाहस्री का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि उपदेशसाहस्री में श्रीमद्भगवद्गीता को पचपन बार, महाभारत को पाँच बार व मनुस्मृति को पाँच बार उद्धृत किया गया है।

श्रुति-स्मृति उद्धरण के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य एवं शाङ्कर भाष्य गीता जैसे प्रामाणिक ग्रन्थों की भाँति ''उपदेशसाहस्री'' भी शङ्कराचार्य रचित ग्रन्थ है।

(iii) अनुबन्धचतुष्टय निरूपण -

अनुबन्धचतुष्टय वेदान्त दर्शन के अपरिहार्य अंग माने जाते हैं।

---

15. आचार्य शङ्करः ब्रह्मवाद (डॉ. रामस्वरूप सिंह नौलखा, पेज 55)

अधिकारी, विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन इन चार अनुबन्धों के समूह को अनुबन्धचतुष्टय के रूप में जाना जाता है।[16] विभिन्न वेदान्त दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों में इनका उपयोग किया है किन्तु ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि दो दार्शनिकों के अनुबन्धचतुष्टय में तो भिन्नता हो सकती है लेकिन एक ही ग्रन्थकार अपने विभिन्न ग्रन्थों में अलग-अलग अनुबन्धचतुष्टय का प्रयोग कदापि नहीं करेगा। क्योंकि ऐसा करने पर उसके दर्शन में विरोधाभास आ जायेगा।

'उपदेशसाहस्री' के ग्रन्थ कर्त्तृत्व के निर्णय की दृष्टि से यहाँ पर आचार्यशङ्कर द्वारा विरचित ब्रह्मसूत्र भाष्य के अनुबन्धचतुष्टय तथा उपदेशसाहस्री के अनुबन्धचतुष्टय का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है -

अधिकारी -

किसी ग्रन्थ विशेष के अर्थ को समझने की योग्यता रखने वाले व्यक्ति को 'अधिकारी' कहते हैं। ब्रह्मसूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य स्पष्ट करते हैं कि ब्रह्म जिज्ञासा का उपदेश उस जिज्ञासु को ही देना चाहिए जिसमें ये चार गुण हों - नित्यानित्य वस्तु विवेक, शमदमादि साधन सम्पन्न, लौकिक पारलौकिक फलों के

---

16. तत्रानुबन्धो नामाधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि (वेदान्तसार 4)

भोग में अनासक्ति तथा मोक्ष की अभिलाषा।[17] अर्थात् इन गुणों को रखने वाला व्यक्ति ही इस ग्रन्थ का 'अधिकारी' है।

उपदेशसाहस्री में कहा गया है कि पाणिग्रहण (विवाह), अग्नि जैसे विहित समस्त कर्मों के अनुष्ठान से सम्पन्न हुए 'व्यक्ति' के लिए वेद भगवान अब ब्रह्मविद्या का आरम्भ करते हैं[18] कहने का अभिप्राय यह है कि विवेक-वैराग्य-शमादि साधनों से सम्पन्न मुमुक्षु व्यक्ति के लिए ही वेद का ज्ञानकाण्ड प्रवृत्त हो रहा है। अर्थात् इन गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही इस ग्रन्थ का 'अधिकारी' हुआ।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ब्रह्मसूत्र भाष्य और उपदेशसाहस्री दोनों के 'अधिकारी अनुबन्ध' एक जैसे हैं।

विषय -

किसी ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय अनुबन्धचतुष्टय का 'विषय अनुबन्ध' कहलाता है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में शङ्कराचार्य ने बताया है कि अविद्या के निवारण के लिए तथा ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान

17. तस्मात् किमपि वक्तव्यं, यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा उपदिश्यत इति। उच्यते - नित्यानित्यवस्तुविवेक:, इहामुत्रार्थभोगविराग:, शमदमादिसाधनसंपत्, मुमुक्षुत्वं चेति। (ब्र.सू.शा.भा. 1/1/1)

18. समापय्य क्रिया: सर्वा दाराग्न्याधानपूर्विका:।
ब्रह्मविद्यामथेदानीं वक्तुं वेद: प्रचक्रमे।। (उपदेशसाहस्री 1/2)

के लिए ही वेदान्त दर्शन का आरम्भ होता है।[19] इसी प्रकार उपदेशसाहस्री में बताया गया है कि अज्ञान ही इस संसार का मूल है अतः उसका त्याग करना सभी को अभीष्ट है, इसीलिए ब्रह्मविद्या का आरम्भ किया जा रहा है, उसी से वास्तविक कल्याण हो सकता है।[20]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि ब्रह्मसूत्र भाष्य तथा उपदेशसाहस्री दोनों ही ग्रन्थों में अविद्या की निवृत्ति द्वारा ब्रह्म ज्ञान का विषय इन ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य 'विषय' है।

सम्बन्ध –

ग्रन्थ विशेष के विषय प्रतिपादन के लिए एवं अनन्तर उसकी सिद्धि के लिए किसी न किसी सम्बन्ध की अपेक्षा होती है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में शङ्कराचार्य ने आत्मा और ब्रह्म के एकत्व को सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किया है इसीलिए वे इस भाष्य में बार-बार इसकी चर्चा करते हैं।[21] इसी प्रकार उपदेशसाहस्री में आत्मा और ब्रह्म की एकता को स्पष्ट करने वाला विषय-विषयी भाव ग्रन्थ

19. अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते।
(ब्र.सू.शा.भा. उपोद्घात)

20. अज्ञानं तस्य मूलं स्यादिति तद्धानमिष्यते।
ब्रह्मविद्याऽत आरब्धा ततो निःश्रेयसं भवेत्।। (उपदेशसाहस्री 1/5)

21. आत्मा च ब्रह्म (ब्र.सू.शा.भा. 1/1/1)

का 'सम्बन्ध' प्रतीत होता है।[22]

उपरोक्त स्पष्टीकरण के अनुसार ब्रह्मसूत्र भाष्य और उपदेशसाहस्री के 'सम्बन्ध अनुबन्ध' समान प्रतीत होते हैं।

प्रयोजन –

ग्रन्थकार द्वारा ग्रन्थ विशेष में विषय प्रतिपादन का मुख्य उद्‌देश्य 'प्रयोजन' कहलाता है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में आचार्य शङ्कर बताते हैं कि श्रुति, स्मृति और न्याय तीनों की दृष्टि से अविद्या दोषयुक्त, सभी जीवधारियों के धर्म-अधर्म के कारण, शरीरग्रहणपूर्वक, सुख-दुःख तारतम्य रूप यह संसार अनित्य है, किन्तु ब्रह्म या मोक्ष पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य आकाश के समान सर्वव्यापी, सर्वक्रियाहीन, नित्यतृप्त, निरवयव एवं ज्योति स्वरूप है।[23] इन वाक्यों से प्रतिध्वनित होता है कि ब्रह्मसूत्र भाष्य में ग्रन्थकार का प्रयोजन अविद्या की निवृत्ति द्वारा ब्रह्मज्ञान देकर मनुष्य के सांसारिक बन्धनों की निवृत्ति करना है ताकि वह मोक्ष की सुखानुभूति कर सके।

22. एक एवात्मा परं ब्रह्म सर्वसंसारधर्मविनिर्मुक्तस्त्वमिति सिद्धम्
(उ.सा. गद्य 1/38)

23.अ. एवमविद्यादिदोषवतां धर्माधर्मतारतम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुखदुःखातारतम्यमनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम्। (ब्र.सू.शा.भा. 1/1/4)

ब. इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं, व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वक्रियारहितम्, नित्यतृप्तम्, निरवयवम्, स्वयञ्ज्योतिःस्वभावम्। यत्र

उपदेशसाहस्री में भी कहा गया है कि सर्वसाधारण अज्ञानी लोक कार्य-कारण रूप संसार में विशेष आसक्त हैं, यह सोचकर उन्हें इस आसक्ति से छुड़ाने के लिए मैने आत्मा के वास्तविक बोध कराने वाले आत्म-बुद्धि संकट की रचना की है। यदि मनुष्य इस संवाद का निरन्तर चिन्तन करता रहे तो वह अज्ञान रूपी महान् भय की प्राप्ति से मुक्त हो सकता है और तब समस्त कामनाओं से मुक्त हुआ वह मनुष्य सदा शोकरहित, समदर्शी, आत्मज्ञ और सुखी होकर अपने ब्रह्मस्वरूप (मोक्षानुभूति) में विचरता रहता है।[24] उपदेशसाहस्री के इन श्लोकों से स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ के ग्रन्थकार का प्रयोजन भी अज्ञानी मनुष्य को सांसारिक मोहमाया से मुक्ति दिलाकर उसे मोक्षानुभूति कराना है। इस प्रकार उपदेशसाहस्री और ब्रह्मसूत्र भाष्य, दोनों ग्रन्थों के 'प्रयोजन अनुबन्ध' भी एक समान हैं।

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि 'अधिकारी', 'विषय', 'सम्बन्ध' एवं 'प्रयोजन' अनुबन्धों का तुलनात्मक निरूपण यह सिद्ध करता है कि जो अनुबन्धचतुष्टय ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य के हैं वही अनुबन्धचतुष्टय उपदेशसाहस्री के भी हैं। इसलिए उपदेशसाहस्री आद्य शङ्कराचार्य द्वारा रचित ग्रन्थ है यह सिद्ध होता है।

24.अ. फले च हेतौ च जनो विषक्तवान् इति प्रचिन्त्याहमतो विमोक्षणे।
जनस्य संवादमिमं प्रक्लृप्तवान् स्वरूपतत्त्वार्थविबोधकारणम्।।

ब. संवादमेतं यदि चिन्तयेन्नरो विमुच्यतेऽज्ञानमहाभयागमात्।
विमुक्तकामश्च तथा जनः सदा चरत्यशोकः सम आत्मवित्सुखी।।

(उपदेशसाहस्री 8/5,6)

(ग)ग्रन्थकार का परिचय –

उपदेशसाहस्री नामक ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य शङ्कर हैं। शङ्कराचार्य दर्शन जगत् के सूर्य हैं और उन्होंने अपने आलोक से भारतीय दर्शन को एक उपयुक्त दिशा दी है। शङ्कराचार्य की दार्शनिक देन से प्रभावित होकर भारतीय एवं पश्चिमी सभी विद्वानों ने उनकी मुक्त कण्ठ से प्रंशसा की है। माधवाचार्य (14 वीं शताब्दी) के शब्दों में – "मेरा विश्वास है कि शङ्कराचार्य जैसे महान् दार्शनिक के महत्त्वांकन में मैं उसी प्रकार हास्य का पात्र बनूंगा जिस प्रकार कि बालक अपने हाथों से चन्द्रमा पकड़ने का उद्योग कर उपहासास्पद बनता है।"[25] अद्वैत वेदान्त के प्रसिद्ध विद्वान मधुसूदन सरस्वती (16 वीं शताब्दी) ने अपने ग्रन्थ 'सिद्धान्त बिन्दु' के आरम्भ में शङ्कराचार्य को शिव का अवतार माना है।[26] भारतीय विद्वानों के अतिरिक्त पश्चिमी विद्वानों ने भी आचार्य शङ्कर की विविध प्रकार से प्रशंसा की है। सर चार्ल्स इलियट् वैदिक दर्शन पर आधारित आचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त को स्थिरता, पूर्णता तथा गम्भीरता की दृष्टि से भारतीय दर्शन के क्षेत्र में प्रथम कोटि का मानते हैं।[27] ई.बी.एफ.

---

25. शंकर दिग्विजय (1/12)
26. श्री शङ्कराचार्य नवावतारं।
    विश्वेश्वरं विश्व गुरूं प्रणम्य। (सिद्धान्त बिन्दु प्रष्ठ 3)
27. Hinduism and Budhism, Vol II (page 208)

टौमलिन शङ्कराचार्य की अद्वितीय प्रतिभा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि शङ्कर उन सब दार्शनिकों में महान् हैं जिन्हें पश्चिम में प्राप्त प्रतिष्ठा की अपेक्षा अधिकतर प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए थी।[28]

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में भारतीय और पश्चिमी विद्वानों द्वारा की गई शङ्कराचार्य की प्रंशसा, उनका जीवन परिचय (व्यक्तितत्त्व एवं कृतित्त्व) प्राप्त करने की तीव्र जिज्ञासा प्रत्येक पाठक के मन में उत्पन्न कर देती है। आचार्य शङ्कर का संक्षिप्त जीवन परिचय हम निम्नलिखित शीर्षकों के अर्न्तगत प्राप्त कर सकते हैं -

1. शङ्कराचार्य का जन्मस्थान
2. शङ्कराचार्य का जन्मकाल
3. शङ्कराचार्य का बाल्यकाल
4. शङ्कराचार्य द्वारा मठों की स्थापना
5. शङ्कराचार्य की समग्र रचनायें

शङ्कराचार्य का जन्मस्थान -

भारत की पुण्य-भूमि पर शङ्कराचार्य के रूप में एक अलौकिक प्रतिभा का अवतरण केरल प्रान्त के 'कालटी' नामक ग्राम में हुआ था। कालटी

28. The Great Philosophers (The eastern World page 218)

को ही कालड़ी, कालादि नामों से भी उच्चारित किया जाता है। एलिस ने इस ग्राम का नाम 'कालड़ी' बतलाया है।[29] केरल प्रदेश में कोचीन शोरानूर रेलवे लाइन पर 'आलवाई' नामक एक छोटा स्टेशन है। इस स्टेशन से दक्षिण की ओर कालटी ग्राम लगभग पाँच-छः मील की दूरी पर स्थित है। शङ्कराचार्य के माता-पिता पन्नियूर ग्राम के निवासी थे। पन्नियूर का उल्लेख शशल ग्राम के नाम से भी मिलता है। कुछ दिनों बाद आचार्य शङ्कर के माता-पिता कालटी में आकर बस गये थे।

शङ्कराचार्य के जन्मस्थान के सम्बन्ध में विद्वानों में ऐकमत्य न होने के कारण कई किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। आनन्दगिरि का कथन है कि चिदम्बरम् में एक सात्विक ब्राह्मण अपनी पत्नी के सहित निवास करता था। इसके बाद किसी समय वह ब्राह्मण संसार का त्याग करके किसी समीपवर्ती वन में चला गया। ब्राह्मण के वन में जाने के बाद उसकी ब्राह्मणी ने चिदम्बरम् के भगवान शङ्कर की आराधना की। भगवान के वरदान से गर्भ धारण करके ब्राह्मणी ने जो संतान उत्पन्न की वह शङ्कर थे। इस कहानी के आधार पर आनन्दगिरि शङ्कर का जन्मस्थान चिदम्बरम् ही मानते हैं।[30]

---

29. Indian Antiquary VII (page 282)
30. ततः सर्वात्मकोदेवः चिदम्बरपुराश्रितः।
आकाशलिगनाम्ना तु विख्यातोऽभून्यहीतले।।
तत्र विद्वन्महेन्द्रस्य कुले द्विजगणाश्रिते।
जातः सर्वज्ञनाम्ना तु कश्चिद् द्विजकुलेश्वरः।। शंकर विजय-आनन्दगिरि (पृष्ठ 9)

आचार्य के जन्मस्थान के सम्बन्ध में एक और कहानी प्रचलित है। त्रिविक्रम भट्ट (मणिमंजरी के लेखक) कहते हैं कि कालटी में एक विधवा ब्राह्मणी रहती थी, जो वैराग्य जीवन व्यतीत करती थी वह ब्राह्मणी अपने वैराग्य जीवन से पथभ्रष्ट हो गई और उसने गर्भ धारण करके जो बालक उत्पन्न किया वह आचार्य शङ्कर थे। कहते हैं कि वह युवती एक बार शिव मन्दिर में भी गयी और पुत्र प्राप्ति की याचना की अतः भगवान शङ्कर के वरदान स्वरूप ही शङ्कराचार्य उत्पन्न हुए। मालाबार देश में इस प्रकार संतान याचना की एक प्रथा थी।[31]

इस प्रकार शङ्कराचार्य के जन्मस्थान के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ और मत मिलते हैं। परन्तु यह मत प्रामाणिक नहीं प्रतीत होते। आनन्दगिरि का चिदम्बरम् वाला मत निम्नलिखित कारणों से प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता –

(1) सारे केरल प्रदेश में यह मान्यता है कि शङ्कराचार्य की माता 'पजुरपन्न इत्लम्' नामक नम्बूदरी ब्राह्मण कुल की थी। यह कुल सदा से त्रिचूर के पास निवास कर रहा है। यह कुटुम्ब केरल प्रान्त का ही निवासी है। अतः

---

31. दी ग्रेट आचार्यज़ (पृष्ठ 10) - नाटेसन, मद्रास।

शङ्कराचार्य को भी केरल प्रदेश का ही मानना चाहिए।

(2) वह स्थान जहाँ शङ्कर ने अपनी माता का दाह संस्कार किया था आज भी कालटी के पास स्थित है। इससे भी शङ्कर का जन्मस्थान कालटी ही सिद्ध होता है।

(3) शङ्कराचार्य का जन्मस्थान केरल प्रदेश में होने का एक प्रमाण यह भी है कि बदरीनाथ के मंदिर के प्रधान पुजारी नम्बूदरी ब्राह्मण ही होते रहे हैं। इस मंदिर की स्थापना आचार्य शङ्कर ने की थी और उन्होंने ही वैदिक विधि से मंदिर की पूजा व्यवस्था के लिए सर्वप्रथम अपने ही देश के नम्बूदरी ब्राह्मण की नियुक्ति की थी। तब से लेकर आज तक नम्बूदरी ब्राह्मण ही इस मन्दिर के प्रधान पुजारी होते हैं।

(4) माध्वमत के अनुयायियों में मणिमंजरी के लेखक त्रिविक्रम भट्ट ने भी शङ्कराचार्य का जन्मस्थान कालटी ही बताया है।

उक्त कारणों के आधार पर केरल प्रदेश के अर्न्तगत कालटी ग्राम का नम्बूदरी परिवार ही शङ्कर की जन्मभूमि सिद्ध होता है। अत: आनन्दगिरि का मत दुर्बल ही कहा जायेगा। मणिमंजरी के लेखक त्रिविक्रम भट्ट की

शङ्कराचार्य की माता के पथ-भ्रष्ट होने की कहानी भी अनुचित आरोपमात्र प्रतीत होती है। वास्तव में यदि शङ्कर की माता चरित्र भ्रष्ट हुई होती तो शङ्कर जैसा पावन चरित्र, माता की अभिलाषानुसार शास्त्र एवं समाज के विपरीत माता का दाह संस्कार न करता। सन्यासी शङ्कर द्वारा माता की अन्त्येष्टि क्रिया का मूल कारण शङ्कर का पावन स्नेह था। आनन्दगिरि और त्रिविक्रम भट्ट द्वारा निर्दिष्ट कहानियों की अप्रामाणिकता का एक कारण यह भी है कि माधव ने अपने ग्रन्थ में इन कहानियों का संकेत तक नहीं किया है। यदि माधव को इनका तनिक भी ज्ञान होता तो वे शङ्कर विजय में इन कहानियों की चर्चा अवश्य करते।

उक्त तर्कों के आधार पर शङ्कराचार्य का जन्मस्थान केरल प्रदेश का कालटी ग्राम ही सिद्ध होता है।

शङ्कराचार्य का जन्मकाल –

बड़े दुर्भाग्य का विषय है कि शङ्कराचार्य जैसे धर्म और दर्शन के महान् विचारक के जन्मकाल के सम्बन्ध में आज तक अनिश्चितता बनी हुयी है। उनके जन्मकाल के बारे में विद्वानों में गम्भीर मतभेद हैं। प्रमुख मतों का विवेचन करते हुए तथा अन्य तर्कों को ध्यान में रखते हुए शङ्कराचार्य के जन्मकाल का अनुमान इस प्रकार किया जा सकता है –

भारतीय मत – (1) 'केरलोत्पत्ति' नामक ग्रन्थ के अनुसार शङ्कराचार्य का जन्मकाल 400 ईस्वी है।[32] इस मत के अनुसार आचार्य का देहावसान 32 वर्ष की अवस्था में न मानकर 38 वर्ष की अवस्था में माना गया है।

(2) द्वारिका मठ और कांची के कामकोटि पीठ के अनुसार शङ्कर का जन्मकाल ईस्वी पूर्व पंचम शतक प्रतीत होता है।

(3) तैलंग की दृष्टि से आचार्य का स्थितिकाल छठी शताब्दी का अन्तिम भाग है। इस मत की रक्षा के लिए तैलंग का कथन है कि आचार्य द्वारा ब्रह्मसूत्र भाष्य में संकेतित पूर्णवर्मा मगध का बौद्ध राजा था।[33]

(4) सर आर.जी. भण्डारकर आचार्य का जन्मकाल 680 ई. से भी कुछ पूर्व का मानने का प्रयास करते हैं।[34]

---

32. Indian Antiquary VII - A summary of the history of the prosperous Shankaracharya (page 282)
33. The great Acharyas (page 13)
34. Report on the search for Sanskrit (page 15)

(5) वैंकटेश्वर ने शङ्कराचार्य का समय 805-897 ई. तक माना है। इस मत के अनुसार शङ्कर की आयु लगभग 92 वर्ष प्रतीत होती है। शङ्कराचार्य की इतनी अधिक अवस्था सिद्ध करने के लिये वैंकटेश्वर यह प्रमाण देते हैं कि आचार्य ने 'देव्यपराधक्षमायन स्त्रोत' में 'मया पंचाशीतेरधिक मपनीते तु वयसि' कहकर 85 वर्ष की अवस्था का संकेत किया है।[35]

पाश्चात्य मत - (1) वर्नेल तथा सिवैल ने आचार्य का जन्मकाल सातवीं शताब्दी स्वीकार किया है।[36]

(2) Lowis Rice ने आचार्य के काल निर्णय के निमित्त श्रृंगेरी मठ के गुरु परम्परा काल को एक-एक करके गिना था। उन्होंने इस गणना के आधार पर शङ्कराचार्य का जीवनकाल 740 और 767 ई. का मध्यभाग स्वीकार किया है।

(3) मैक्समूलर और प्रो. मैक्डोनल के अनुसार

---

35. J.R.A.S. (1916) page 151-162
36. बर्नेल - South Indian Paleography (page 37)
    सिवैल - List of Antiquities in Masras (page 177)

शङ्कराचार्य का जन्मकाल 788 शताब्दी और मृत्युकाल 820 शताब्दी है।[37] कीथ भी आचार्य का जन्मकाल 788 ही मानते हैं परन्तु आचार्य के मृत्युकाल 820 शताब्दी के सम्बन्ध में वे कुछ संदिग्ध प्रतीत होते हैं। कीथ अपनी अनुमान परक शैली के द्वारा 820 शताब्दी को आचार्य की मृत्यु अथवा सन्यास ग्रहण करने का काल स्वीकार करते है।[38]

उपरोक्त मतों का विवेचन करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि शङ्कराचार्य द्वारा ब्रह्मसूत्र भाष्य में उद्धृत 'यदन्र्ज्ञेय रूपं तद्बहिर्वदवमासते' अंश ''दिङ्नाथ'' की आलम्बन कारिका से उद्धृत किया गया है। दिङनाथ का काल पाँचवी शताब्दी से पूर्व कदापि निश्चित नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त शङ्कराचार्य के प्रधान शिष्य सुरेश्वराचार्य ने अपने वृहदारण्यक भाष्य वार्तिक में प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक ''धर्मकीर्ति'' का उल्लेख किया है।[39] धर्मकीर्ति की कारिका के 'सहोपलम्भ नियमादभेद:' अंश को भी शङ्कराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य[40] में

37. Indian Philosophy Vol. II (page 447)
38. A History of Sanskrit Literature-Kieth (page 476)
39. त्रिष्वेव त्वविना भावादिति यद्धर्मकीर्तिना।
प्रत्यज्ञायि प्रतिज्ञेयं हीये तासौ न संशय:।। (वृ.भा.वा. 4/3)
40. ब्र.सू.शा.भा. (2/2/28)

उद्धृत किया है। क्योंकि धर्मकीर्ति का समय 635-650 ई. स्वीकार किया गया है अतः यह तर्क भी आचार्य के 650 ई. के परवर्ती होने में सहायक है। इस प्रकार अन्तः साक्ष्य के आधार पर चौथी, पाँचवी और छठी शताब्दी के मत सारयुक्त प्रतीत नहीं होते तथा बर्हिसाक्ष्य के आधार पर सातवीं शताब्दी के मत भी खण्डित हो जाते हैं। वैकंटेश्वर का आचार्य की 85 की अवस्था वाला मत भी निराधार प्रतीत होता है। जिसका कारण यह है कि वैंकटेश्वर द्वारा संकेतित देवपराधक्षमापन स्त्रोत के आद्य शङ्कर द्वारा रचित होने में कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिलता। डा० के.वी. पाठक को बेलगांव में तीन पन्नों की एक छोटी पुस्तक प्राप्त हुई है जिसके निम्नोद्धृत अंश से आचार्य की आयु 32 वर्ष सिद्ध होती है -

दुष्टाचारविनाशाय प्रादुर्भूतो महीतले।

सएव शङ्कराचार्यः साक्षात् कैवल्यनायकः।।

अष्टवर्षे चतुर्वेदान् द्वादशेसर्वशास्त्रकृत।

षोडशेकृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्।।

उपयुर्क्त विवेचन के आधार पर शङ्कराचार्य का जन्म वर्ष 788 ई. मानना ही उचित प्रतीत होता है। आचार्य की अवस्था 32 वर्ष

निश्चित होती है और इसलिये आचार्य का मृत्यु वर्ष 820 ई. निश्चित होता है।

शङ्कराचार्य का बाल्यकाल –

शङ्कराचार्य भगवान शिव के अवतार कहे जाते हैं। शङ्कराचार्य के अवतार होने के संकेत बाल्यावस्था से ही प्राप्त होने लगे थे। दो वर्ष की ही अवस्था में शङ्कर को पुराणादि की कथायें कण्ठस्थ हो गयी थीं। शङ्कर अपने जीवन का तीसरा वर्ष ही बिता पाये थे कि इनके पिता शिवगुरु का स्वर्गवास हो गया। जब शङ्कराचार्य की आयु का पाँचवां वर्ष आरम्भ हुआ तो उन्हें गुरु-गृह विधाध्ययन के निमित्त भेज दिया गया। दो ही वर्षों के भीतर शङ्कर ने वेद, वेदान्त और वेदांगों का अध्ययन पूर्ण कर लिया। इसके उपरान्त शङ्कर घर चले आये।

शङ्कर की माता ने इनका विवाह करने की इच्छा प्रकट की परन्तु इन्होंने सन्यास ग्रहण करने का दृढ़ विचार प्रस्तुत किया। परन्तु माता ने उन्हें इसकी आज्ञा नहीं दी। माता की अस्वीकृति से शङ्कर का विचार शिथिल नहीं हुआ। उनके हृदय में सन्यास-ग्रहण की तीव्र अभिलाषा बनी ही रही। अवसरवश शङ्कर माता के साथ एक दिन नदी में स्नान करने गये, वहाँ एक मगरमच्छ ने शङ्कर का

पैर पकड़ लिया। इस पर शङ्कर ने अपनी माता से कहा कि यदि आप मुझे सन्यास ग्रहण करने की आज्ञा दें तो यह मगर मेरा पैर तुरन्त छोड़ देगा। मोहवश पुत्र की जीवन रक्षा के लिए माता ने सन्यास की आज्ञा दे दी। आज्ञा का देना था कि मगर ने शङ्कर का पैर छोड़ दिया। उसी समय शङ्कर ने सन्यास ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की। इस प्रकार 8 वर्ष की अवस्था में ही शङ्कर ने सन्यास ग्रहण कर लिया। सन्यास ग्रहण करके जाते समय शङ्कर माता की मृत्यु के पश्चात् उनकी अन्त्येष्टि क्रिया करने का वचन भी देते गये जो कि बाद में उन्होंने पूरा भी किया।

सन्यासी शङ्कर गुरु की खोज में नर्मदा के तट पर पहुँचे। वहाँ पर्वत की गुफा में गोविन्दाचार्य महात्मा तपस्या कर रहे थे। शङ्कर ने उनका दर्शन गुफा के छिद्र से किया। गुफा के बाहर से ही शङ्कराचार्य ने गोविन्दाचार्य की स्तुति की। प्रसन्न होकर गोविन्दाचार्य जी ने अपने चरण गुफा के बाहर निकाल दिये। शङ्कराचार्य ने चरण पूजा की और चातुर्मास्य पर्यन्त भूमिसुर ग्राम में रहकर गुरु की प्रतिक्षा की। जब चातुर्मास्य के उपरान्त गोविन्दाचार्य जी गुफा से निकले तो उन्होने शङ्कराचार्य को उपदेश दिया और आज्ञा दी कि तुम काशी जाकर समस्त अवैदिक मतों का खण्डन करके वेदान्त सम्मत अद्वैत मत का प्रतिपादन करो और वेदान्तसूत्र पर भाष्य लिखो।

गुरु की आज्ञा प्राप्त करके शङ्कर काशी चले आये। काशी में रहकर आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र, उपनिषदों और गीता पर भाष्य रचना की और साथ ही अवैदिक मतानुयायियों को परास्त किया।

शङ्कराचार्य द्वारा मठों की स्थापना –

भारतवर्ष को एकसूत्र में पिरोने का कार्य शङ्कराचार्य ने मठों की स्थापना के द्वारा अद्वितीय ढंग से किया है। देश की चारों दिशाओं में समाज को पुष्ट एवं व्यावहारिक विचारों की ऊर्जा से ओत-प्रोत रखने की दृष्टि से उन्होंने चार मठों की स्थापना की। मैसूर में तुगंभद्रा नदी के तट पर 'श्रृंगेरी मठ' की स्थापना की तथा यहाँ का मठाधीश सुरेश्वराचार्य को बनाया। यहीं आचार्य को अपनी माता की मृत्यु का समाचार मिला। समाचार पाकर अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के पालन हेतु शङ्कराचार्य अपनी जन्मभूमि चले आये और माता की अन्त्येष्टि क्रिया करके पुनः श्रृंगेरी मठ वापस लौट आये। तदुपरान्त आचार्य शङ्कर ने पूर्व दिशा में जगन्नाथपुरी में 'गोवर्धन मठ' की स्थापना की तथा वहाँ का मठाधीश पद्मपादाचार्य को बना दिया। इस प्रकार दक्षिण एवं पूर्व दिशाओं में वेदान्त मत का प्रचार करके आचार्य शङ्कर उत्तर भारत की ओर बढ़ने लगे। उज्जैन आते हुए इन्होंने वहाँ की भीषण भैरव साधना को बन्द

किया तत्पश्चात् पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थान किया। गुजरात पहुँचकर उन्होंने द्वारिका में 'शारदा मठ' की स्थापना की तथा हस्तामलकाचार्य को इस मठ का अधिपति बना दिया। गुजरात से आचार्य शङ्कर आसाम के कामरूप नामक स्थान गये और शैवों से शास्त्रार्थ किया। कामरूप से आचार्य शङ्कर उत्तर के बदरिकाश्रम स्थान में चले आये और यहाँ पर 'ज्योर्तिमठ की स्थापना करके तोटकाचार्य को मठाधिपति बना दिया। यहाँ से शङ्कराचार्य केदारनाथ चले गये तथा केदारनाथ में ही भारतवर्ष का यह अद्वितीय नक्षत्र सदा के लिये अस्त हो गया। शङ्कराचार्य की समाधि केदार क्षेत्र में भगवान् केदारेश्वर के मन्दिर के समीप आज भी स्थित है।

इस प्रकार भारतवर्ष की चारों दिशाओं में शङ्कराचार्य द्वारा स्थापित चार मठ - श्रृंगेरीमठ, गोवर्धन मठ, शारदामठ तथा ज्योतिर्मठ आज तक अद्वैत मत के प्रचार प्रसार द्वारा, राष्ट्रीय एकता के लिए अपना महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान कर रहे हैं।

शङ्कराचार्य की समग्र रचनायें -

शङ्कराचार्य की समग्र रचनाओं को निम्नलिखित चार स्वरूपों में विभक्त किया जा सकता है -

1. भाष्य ग्रन्थ

2. स्त्रोत ग्रन्थ

3. प्रकरण ग्रन्थ

4. तन्त्र ग्रन्थ

1. भाष्य ग्रन्थ – (क) प्रस्थानत्रयी के भाष्य ग्रन्थ

(1) **ब्रह्मसूत्र भाष्य** – शङ्कराचार्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना ब्रह्मसूत्र भाष्य है। ब्रह्मसूत्र के स्पष्टीकरण के लिये एक सरल शैलीयुक्त स्पष्ट भाष्य की आवश्यकता थी। यही कार्य शङ्कराचार्य ने किया है।

(2) **गीता भाष्य** – शङ्कराचार्य ने गीता पर भाष्य, दूसरे अध्याय के 11 वें श्लोक से आरम्भ किया है। इस भाष्य में शङ्कराचार्य ने गीता की ज्ञानपरक व्याख्या की है।

(3) **उपनिषद् भाष्य** – शङ्कराचार्य ने 12 उपनिषदों पर अपना भाष्य लिखा है। ये उपनिषद् इस प्रकार हैं – (i) ईश, (ii) केन, (iii) कठ, (iv) प्रश्न, (v) मुण्डक, (vi) माण्डूक्य, (vii) तैत्तिरीय, (viii) ऐतरेय, (ix) छान्दोग्य, (x) बृहदारण्यक, (xi) श्वेताश्वतर, (xii) नृसिंहतापनी। किन्तु शङ्कराचार्य के अन्यभाष्यों की भाषा-शैली

के आधार पर विद्वान इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि केन उपनिषद् भाष्य, श्वेताश्वतर उपनिषद् भाष्य, माण्डूक्योपनिषद् भाष्य तथा नृसिंहतापनीयोपनिषद् भाष्य शङ्कराचार्य द्वारा रचित होने में सन्देह है।

(ख) **इतर ग्रन्थों पर भाष्य ग्रन्थ**

प्रस्थानत्रयी के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों पर भी शङ्कराचार्य द्वारा विरचित भाष्य उपलब्ध हैं। इनमें से शङ्कराचार्य द्वारा रचित प्रामाणिक भाष्य इस प्रकार हैं -

(i) विष्णुसहस्रनाम भाष्य, (ii) सनत्सुजातीय भाष्य, (iii) ललिता त्रिशती भाष्य, (iv) माण्डूक्यकारिका भाष्य।

2. स्त्रोत ग्रन्थ

आचार्य शङ्कर अद्वैत सिद्धान्त के समर्थक होते हुए भी व्यवहार में सगुण ब्रह्म के उपासक थे। इसीलिये उनके हृदय में देवी-देवताओं का भी उच्च स्थान है। यही कारण है कि उन्होंने शिव, विष्णु, गणेश, शक्ति आदि देवताओं के सम्बन्ध में स्त्रोत और स्तुतियाँ लिखी हैं। आचार्य शङ्कर के इन स्त्रोतों में साहित्यिक और दार्शनिक दोनों विशिष्टतायें प्राप्त होती हैं। शङ्कर के नाम से प्रसिद्ध स्त्रोत ग्रन्थ इस प्रकार हैं -

(1) **गणेश स्त्रोत** - (i) गणेश पंचरत्न, (ii) गणेश भुजंग प्रयात, (iii) गणेशाष्टक, (iv) वरद गणेश स्त्रोत।

(2) **शिव स्त्रोत** - (i) शिवभुजंग, (ii) शिवानन्द लहरी, (iii) शिवपादादिक शान्त स्त्रोत, (iv) शिवकेशादि पादान्त स्त्रोत, (v) वेदसार शिवस्त्रोत, (vi) शिवापराधक्षमापण स्त्रोत, (vii) सुवर्णमाला स्तुति, (viii) दक्षिणामूर्ति वर्णमाला, (ix) दक्षिणामूर्ति अष्टक, (x) मृत्युञ्जय मानसिक पूजा, (xi) शिवनामावल्यष्टक (xii) शिवपंचाक्षर, (xiii) उमामहेश्वर, (xiv) दक्षिणामूर्ति स्त्रोत, (xv) काल-भैरवाष्टक, (xvi) शिवपञ्चाक्षरनक्षत्रमाला, (xvii) द्वादश लिंग स्त्रोत, (xviii) दशश्लोकी स्तुति।

(3) **देवी स्त्रोत** - (i) सौन्दर्य लहरी, (ii) देवीभुजंग स्त्रोत, (iii) आनन्द-लहरी, (iv) त्रिपुर सुन्दरी वैदपाद, (v) त्रिपुरसुन्दरी मानस पूजा, (vi) देवी चतु:षष्ठयुपचार पूजा, (vii) त्रिपुरसुन्दर्यष्टक, (viii) ललित पंचरत्न, (ix) कल्याण वृष्टिस्तव, (x) नवरत्नमालिका, (xi) मंत्रमात्रिका पुष्पमाला, (xii) गौरी दशक, (xiii) भवानी भुजंग, (xiv) कनकधारा, (xv) अन्नपूर्णाष्टक, (xvi) मीनाक्षी पंचरत्न, (xvii) मीनाक्षी स्त्रोत, (xviii) भ्रमराम्बाष्टकम्, (xix) शारदाभुजंग प्रयाताष्टक।

(4) **विष्णु स्त्रोत** - (i) कामभुजंग प्रयात, (ii) विष्णुभुजंग प्रयात, (iii) विष्णुपादादि केशान्त, (iv) पाण्डुरंगाष्टक (v) अच्युताष्टक, (vi) कृष्णाष्टक, (vii) हरिमीडे स्त्रोत, (viii) गोविन्दाष्टक (ix) भगवन्-मानस पूजा, (x) जगन्नाथाष्टक।

(5) **युगल देवता स्त्रोत** - (i) अर्धनारीश्वर स्त्रोत, (ii) उमामहेश्वर स्त्रोत, (iii) लक्ष्मीनृसिंह पञ्चरत्न, (iv) लक्ष्मीनृसिंह करूणारस स्त्रोत।

(6) **नदी-तीर्थ सम्बन्धी स्त्रोत** - (i) नर्मदाष्टक, (ii) गंगाष्टक, (iii) यमुनाष्टक, (iv) मणिकर्णिकाष्टक, (v) काशीपंचक।

(7) **साधारण स्त्रोत** - (i) हनुमत् पंचरत्न, (ii) सुव्रहण्य भुजंग, (iii) प्रातः स्मरण स्त्रोत, (iv) गुर्वष्टक।

उपरोक्त 64 स्त्रोत आचार्य शंकर की प्रकाशित रचनायें हैं।* यों तो मठों में प्राप्त हस्तलिखित एवं अन्य स्त्रोतों को मिलाकर कुल संख्या 240 है किन्तु शैली एवं प्रतिपाद्य विषय के अनुशीलन के पश्चात् ये सभी आदि शङ्कराचार्य द्वारा विरचित नहीं प्रतीत होते हैं।

---

* शंकर ग्रन्थावली (वाणी विलास प्रेस द्वारा प्रकाशित)

3. प्रकरण ग्रन्थ –

सर्वसाधारण को वेदान्तदर्शन से अवगत कराने की दृष्टि से शङ्कराचार्य ने प्रकरणग्रन्थों की रचना की। वैसे तो शङ्कराचार्य रचित प्रकरण ग्रन्थों पर भी अनेक विवाद हैं किन्तु निम्नलिखित इक्कीस प्रकरण ग्रन्थों को अधिकतर विद्वानों ने अपनी मान्यता प्रदान की है –

(1) अपरोक्षानुभूति, (2) आत्मबोध, (3) तत्त्वोपदेश, (4) प्रौढ़ानुभूति, (5) ब्रह्मज्ञानावली, (6) लघुवाक्यवृत्ति, (7) वाक्यवृत्ति, (8) शतश्लोकी, (9) विवेकचूड़ामणि, (10) स्वात्मनिरूपण, (11) अद्वैतानुभूति, (12) दशश्लोकी, (13) प्रबोध सुधाकर, (14) प्रश्नोत्तररत्नमलिका, (15) ब्रह्मानुचिन्तनम्, (16) मोह मुद्गर, (17) योगतारावली, (18) स्वात्मप्रकाशिका, (19) सर्ववेदान्तसिद्धान्तसार संग्रह (20) उपदेशसाहस्री, (21) सदाचारानु- संधानम्।

4. तन्त्रग्रन्थ –

'प्रपञ्चसार' शङ्कराचार्य द्वारा रचित प्रमुख तन्त्रग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त स्त्रोत ग्रन्थों में उल्लेखित 'सौन्दर्यलहरी' को तन्त्रग्रन्थ के अर्न्तगत भी रखा जा सकता है।

☆ ☆ ☆ ☆

ꖦ द्वितीय अध्याय ꖦ

उपदेशसाहस्री का स्वरूपनिर्णय

उपदेशसाहस्री का स्वरूपनिर्णय

शङ्कराचार्य ने वेदरूपी समुद्र को मथकर उपदेशसाहस्री रूपी नवीन सुधा को निकाला है। जिस प्रकार प्राचीन सुधा का पान करने से देवलोक में अमरत्व की प्राप्ति हुआ करती थी; उसी प्रकार इस नीवन सुधा के श्रवणमात्र से इसी लोक में मुमुक्षु को अमरता की प्राप्ति होती है। उपदेशसाहस्री शङ्कराचार्य द्वारा रचित प्रकरण ग्रन्थों में से एक है। यह प्रकरण ग्रन्थ गद्य-पद्य उभयात्मक है। इसका पूर्वार्द्ध भाग पद्य में और उत्तरार्द्ध भाग गद्य में है। पूर्वार्द्ध भाग में कुल उन्नीस प्रकरण हैं और उत्तरार्द्ध भाग में केवल तीन प्रकरण हैं।

उपदेशसाहस्री के पूर्वार्द्ध भाग में सबसे पहले उपोद्घातप्रकरण आया है। इसमें कुल छब्बीस श्लोक हैं। इसके अर्न्तगत मङ्गलाचरण के बाद वेदान्त का कर्मकाण्ड के साथ सम्बन्ध बताया गया है। इसके साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि मोक्ष प्राप्ति में केवल ज्ञान (बिना किसी सहकारी कारण के) ही कारण है।

प्रतिषेधप्रकरण में चार श्लोक हैं। इसमें यह बताया गया है कि 'नेति-नेति' के द्वारा समस्त प्रपञ्चों का प्रतिषेध करने पर केवल आत्मा ही शेष रह जाता है। जिसका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता है, तथा यह आत्मा ही सबका साक्षी है।

ईश्वरात्मप्रकरण में भी चार श्लोक हैं। इसमें 'अहं ब्रह्मास्मि' इस श्रुति के द्वारा जीव और ब्रह्म में अभेद बताया गया है।

तत्त्वज्ञानस्वभावप्रकरण में पाँच श्लोक हैं, जिसमें यह कहा गया है कि ब्रह्मात्म ज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र उपाय है।

बुद्ध्यपराधप्रकरण में भी पाँच श्लोक हैं। इसमें आत्मज्ञान को मोक्ष कहा गया है, फिर भी अज्ञानवश संसारी मनुष्य अपने कर्मो के नाश के भय से (उदङ्क-मातङ्ग न्याय से[1]) यथार्थ आत्मज्ञान को स्वीकार नहीं करते। इस अज्ञान का नाश हो जाने पर मुमुक्षु को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

विशेषापोहप्रकरण में छः श्लोक है जिसमें कृश, स्थूल आदि समस्त विशेषणों को अनात्मा बताया गया है क्योंकि छिन्न हस्त के समान इन स्थूल आदि विशेषणों का नाश हो जाता है[2] तथा अन्त में केवल सच्चिदानन्द ब्रह्म ही शेष रहता है।

बुद्ध्यारूढ़प्रकरण में छः श्लोक हैं। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा समस्त प्रपञ्चों से विलक्षण शुद्ध और अद्वितीय है। स्थूल और सूक्ष्म शरीरों का साक्षी होने के साथ ही साथ आत्मा

1. उ.सा. (5/2)
2. छित्त्वा त्यक्तेन हस्तेन स्वयं नात्मा विशेष्यते।
   तथा शिष्टेन सर्वेण येन-येन विशेष्यते।। (उपदेशसाहस्री 6/1)

बुद्धि का भी साक्षी है। लेकिन बुद्धि के समान विकारी और अल्पज्ञ नहीं है।[3] जिस प्रकार स्फटिक मणि पर सूर्य की धूप से जपा कुसुम की रक्तिमा प्रकाशित होती है उसी प्रकार बुद्धि में रहने वाले समस्त विषयों को आत्मा सूर्य की धूप के समान प्रकाशित करता है।

मतिविलापनप्रकरण में छः श्लोक हैं। इसमें आत्मा और मन के संवाद के द्वारा मनोलय का उपदेश दिया गया है और यह कहा गया है कि यह आत्मा ही ब्रह्म है जो आकाश जैसा व्यापक, इन्द्रियादि से परे, नित्य, प्रकाशमान, अजन्मा, अविनाशी और अद्वितीय है, वही ॐ है।[4] यह ॐ सर्वत्र व्याप्त है। आत्मा शुद्ध और निर्विकार है।[5] आत्मा न तो किसी कार्य का कारण है और न कार्य है वरन् सबका साक्षी स्वयंप्रकाश है। अतः 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' का जो दृढ़ निश्चय कर लेते हैं उन्हें 'बीजाभावे फलाभावः' न्याय से फिर कभी भी जन्म नहीं ग्रहण करना पड़ता क्योंकि उसके लिए शोक और मोह का नाश हो चुका रहता है।[6]

---

3. विकारित्वमशुद्धत्वं भौतिकत्वं न चात्मनः।
   अशेषबुद्धिसाक्षित्वाद्, बुद्धिवच्चाल्पवेदना।। (उपदेशसाहस्री 7/3)
4. आमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। (माण्डूक्य उपनिषद् 1/1)
5. शुद्धमपापविद्धम्। (ईशावास्योपनिषद् 8)
6. तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः। (ईशावास्योपनिषद् 7)

सूक्ष्मताव्यापिताप्रकरण में नौ श्लोक हैं। इसमें ब्रह्म को सूक्ष्म और व्यापक बताया गया है। स्वप्न, जाग्रत और सुषुप्ति का साक्षी आत्मा स्वयं प्रकाश है। जिस प्रकार म्यान से निकली हुयी तलवार अपने स्वरूप से दिखायी पड़ती है उसी प्रकार कार्य और कारण से रहित आत्मा भी स्वयंप्रभ है। श्रुति भी इसका समर्थन करती है – 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः'। यह भी स्पष्ट है कि आत्मा न तो सत् पदार्थ है न असत्। न प्रत्यक्ष के योग्य है और न अयोग्य। इसी प्रकार आत्मा पञ्चभूतों से बना हुआ शरीर भी नहीं है। वरन् इन सबका साक्षी आकाश के समान सूक्ष्म एवं अद्वय है।[7] इस प्रकार जो तत्त्वार्थ को जानता है वह निश्चय ही संसार से मुक्त हो जाता है।

दृशिस्वरूपपरमार्थदर्शनप्रकरण में कुल चौदह श्लोक हैं। इसमें आत्मा को स्थूल एवं सूक्ष्म देहों से पृथक् उन सबका साक्षी बताया गया है। इसी सर्वसाक्षी को माण्डूक्य उपनिषद् में तुरीय कहा गया है।[8] यह सर्वथा सत्य है कि आत्मा की कोई विक्रिया नहीं है। न ही इसका पुण्य है न पाप, न मोक्ष है न बन्धन, न तो इसका कर्म है और न फल ही है। जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त रहता हुआ

7. एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चेति। (श्वेता.उ. 6/11)
8. नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञम्। (मा.उ. 1/7)

भी किसी से लिप्त नहीं होता वैसे ही आत्मा भी शरीर में सूक्ष्म रूप से रहता हुआ भी किसी से लिप्त नहीं होता है। सुपुप्ति के समान जाग्रत् अवस्था में भी जो द्वैत को देखता हुआ भी नहीं देखता[9] कार्य को करता हुआ भी नहीं करता ऐसा आत्मज्ञानी ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानता है।[10]

ईक्षितृत्त्वप्रकरण में कुल सोलह श्लोक हैं। इसमें यह कहा गया है कि आत्मज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति का साधन है लेकिन इस आत्मज्ञान का कोई और सहायक कारण नहीं है। जिस प्रकार जागने तक स्वप्न की सत्यता प्रतीत होती है उसी प्रकार आत्मज्ञान होने तक ही जाग्रत् अवस्था में देहात्मबुद्धि को सत्य समझा जाता है। अर्थात् आत्मसाक्षात्कार के पूर्व तक ही समस्त व्यवहार सत्य लगते हैं। आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर 'नेति-नेति'[11] श्रुति के द्वारा समस्त व्यवहार समाप्त हो जाते हैं।

प्रकाशप्रकरण में कुल उन्नीस श्लोक हैं। इसमें आत्मा को प्रकाश के समान सर्वत्र फैला हुआ बताया गया है। फिर भी अज्ञानी व्यक्ति अज्ञान के कारण रज्जु को सर्प के समान आत्मा के वास्तविक

9. सचक्षुरचक्षुरिव 0 (वेदान्तसार पृ 202)
10. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
    क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे। (मु.उ. 2/2/9)
11. अथात आदेशो नेति-नेति इत्यारभ्य 'सत्यस्य सत्यमिति, प्राणा वै सत्यं, तेषामेष सत्यम्' इत्यन्तेव वाक्येन (बृ.उ. 2/3/6)

स्वरूप को नहीं समझ पाता है। वस्तुतः सम्पूर्ण जगत् के विज्ञाता आत्मा का कोई भी अन्य विज्ञाता नहीं हो सकता। इसीलिए सभी भूतों में सर्वदा विद्यमान 'मैं' ही मुक्तस्वरूप परम् विज्ञाता हूँ।[12]

अचक्षुष्ट्वप्रकरण में कुल सत्ताइस श्लोक हैं। इसमें यह कहा गया है कि आत्मा शुद्ध और अद्वितीय है। वस्तुतः चक्षु, श्रोत्र, वाक्, त्वक् एवं मनस् आदि इन्द्रियाँ जड देह में ही सम्भव हैं।[13] बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा गया है कि मुझमें चक्षु आदि इन्द्रियाँ नहीं हैं - 'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः'। इसी प्रकार आत्मा प्राणहीन, मनोहीन एवं शुद्ध है ऐसा मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है। कठोपनिषद् में भी आत्मा को शब्द, स्पर्श और रूप से रहित कहा गया है।[14] आत्मा आकाश के समान सूक्ष्म और अद्वय है लेकिन आकाश के बिना भी आत्मा की सत्ता सिद्ध है। एक चैतन्य सभी प्राणियों का आत्मा है, भिन्न-भिन्न नहीं। चैतन्य की भिन्नता उपाधि के कारण ही प्रतीत होती है जैसे आकाश एक है फिर भी घट, मठादि उपाधियों की भिन्नता से आकाश में भी भिन्नता भासित होने लगती है, लेकिन उपाधि के हट जाने

12. विज्ञातुर्नैव विज्ञाता परोऽन्यः संभवत्यतः।
विज्ञाताऽहं परो मुक्तः सर्वभूतेषु सर्वदा।। (उपदेशसाहस्री 12/12)

13. प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे मनसः शोकमोहकौ
जरामृत्यू शरीरस्य षडूर्मिरहितः शिवः ।।इति। (उपदेशसाहस्री 13/4)

14. अशब्दमस्पर्शमरूप[illegible]ऽरसं नित्यमगन्धवच्चयत्

पर उसकी स्वाभाविक एकता स्पष्ट हो जाती है।

स्वप्नस्मृतिप्रकरण में कुल पचास श्लोक हैं। इसमें यह कहा गया है कि स्वप्न और सुषुप्ति के ज्ञान के समान जाग्रत् ज्ञान भी मिथ्या है। इन सभी अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) का साक्षी आत्मा इनके सुख व दुःख से कभी लिप्त नहीं होता वरन् उनसे बाहर ही रहता है।[15] जिस प्रकार स्वप्नावस्था में भिक्षा के लिए घूमने वाला शरीर स्वयं स्वप्नदृष्टा नहीं होता उसी प्रकार जाग्रदवस्था में दिखायी देने वाले देह से भी दृष्टा होने के कारण वह भिन्न ही है। अतः रज्जु में सर्प के ज्ञान के समान कर्त्ता, कर्म आदि भेदों का नाश हो जाने पर केवल आत्मा ही शेष रहता है।[16] शब्द से लेकर गन्ध पर्यन्त विषय जड़ होने के कारण स्वयं कभी भी प्रकाशित नहीं हो सकते इन सबसे भिन्न आत्मा ही इनका प्रकाशन करता है।

नान्यदन्यत्प्रकरण में चौव्वन श्लोक हैं। इसमें यह कहा गया है कि आत्मा और ब्रह्म एक हैं, उनमें कोई भेद नहीं है। इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् में भी कहा गया है कि 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' अर्थात् ब्रह्म होते ही ब्रह्म को प्राप्त करता है और तब तप्तलौहपिण्ड पर पड़े हुए जलबिन्दु के समान समस्त मिथ्याज्ञान का नाश हो

---

15. न लिप्यते लोकदुःखेन ब्राह्मः (कठ.उ. 2/2/11)
16. सत्यस्य सत्यम् (बृ.उ. 2/3/6)

जाता है अतः आत्मा समस्त भूतों में विद्यमान है और सभी चेतन आत्मा के ही रूप हैं। इस अशरीरी आत्मा को सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते।[17] बुद्धि आदि के समान द्रष्टा आत्मा विकारी नहीं होता। जिस प्रकार परिणामी चक्षु आदि दृष्टि का लोप हो जाता है वैसे अपरिणामी आत्मा का कभी विलोप नहीं होता है। क्योंकि द्रष्टा तो सदैव एक रूप दृष्टि वाला होता है।[18] जैसे अचेतन कुठार आदि करण, चेतन, देवदत्त आदि कर्त्ता से अधिष्ठित होते हैं वैसे ही अचेतन चक्षु आदि इन्द्रियाँ चेतन आत्मा से अधिष्ठित होते हैं। इन्द्रियों की अवस्था जागरण, मन की अवस्था स्वप्न और बुद्धि की अवस्था सुषुप्ति है। आत्मा इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी शुद्ध और चिद्रूप है।[19] माया की उपाधि के कारण ही इसे सोपाधिक कहा जाता है। वास्तव में तो वह अनुपाधिक और निरूपाख्य है। अतः देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि को आत्मा नहीं कहा जा सकता है। आत्मा को चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों, वाणी और मन के द्वारा प्राप्त भी नहीं किया जा सकता।[20] मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र उपाय ज्ञान ही है।[21]

17. अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। (छा.उ. 8/12/1)
18. नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वादिति। (बृ.उ. 4/3/23)
19. शुद्धमपापविद्धमिति। (ईशावास्योपनिषद् 8)
20. यतो, वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा
    सहे ति न चक्षुषा गृह्यते नापि
    वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वेति च। (मु.उ. 3/1/8)
21. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
    क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टं इतिश्रुते। (मु.उ. 2/2/9)

इस प्रकार आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर मुमुक्षु व्यक्ति के हृदय की काम-क्रोधादि ग्रन्थि टूट जाती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार केंचुल को उतार कर फेंक देने के बाद सर्प को उससे कोई मोह नहीं रह जाता उसी प्रकार जीवन्मुक्त को अपने शरीर से कोई मोह नहीं रहता।

पार्थिवप्रकरण में कुल चौहत्तर श्लोक हैं। इसमें शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, मन आदि को आत्मा मानने वाले विभिन्न विद्वानों के मत का खण्डन करके स्व-सिद्धान्त को स्पष्ट किया गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि शरीरादि विनाशशील होते हैं जबकि अधिष्ठानभूत ब्रह्म का कभी नाश नहीं होता है। यद्यपि आत्मा को तो सभी सिद्धान्त स्वीकार करते हैं किन्तु यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है या अभावस्वरूप? वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार भाव और अभाव दोनों का साक्षी कोई सत् पदार्थ है अतः जो अभाव को भी जानता है वही आत्मा है। यह आत्मा न ग्राह्य है और न त्याज्य एवं किसी अन्य तत्त्व के द्वारा कल्पित भी नहीं है।[22] इस आत्मा का न तो बन्ध है और न मोक्ष है। बुद्धि की भ्रान्ति को बन्धन और उस भ्रान्ति के नाश को मोक्ष कहा जाता है - 'भ्रान्तिनिवृत्तिरेव मोक्षः'। अतः आत्मा घट-पटादि

---

22. मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेता तरन्तिते। (गीता 7/14)

के समान विनाशी न होकर अविनाशी और निर्विकार होता है। जिस प्रकार एक पुरुष के शरीर में दूसरे पुरुष को अभिमान नहीं होता उसी प्रकार अपने शरीर में भी अभिमान शेष न रहने पर ही मुमुक्षु आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है। क्योंकि इस आत्मलाभ से बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं है।[23]

सम्यङ्गमतिप्रकरण में कुल नवासी श्लोक हैं। इसमें आत्मज्ञान को सम्पूर्ण सांसारिक ज्ञेय पदार्थों से सर्वोत्कृष्ट बताया गया है और यह भी कहा गया है कि यह आत्मज्ञान समस्त कर्मों का परित्याग करके ही प्राप्त किया जा सकता है। सीप में रजत की भ्रान्ति के समान यह जगत् भी (अनेक रूपों वाला) असत् प्रतीत होता है लेकिन सब कुछ असत् होने से शून्यवाद की प्रसक्ति होना भी ठीक नहीं है क्योंकि कल्पना का अधिष्ठान सर्वदृक् व सर्वसाक्षी आत्मा कल्पना के पूर्व भी वेद्य और सिद्ध है।[24]

जिस प्रकार मायावी अपनी माया से बनाए हुए हाथी पर सवार होकर किसी दूसरे देश में जाकर पुनः वापस आता हुआ दिखायी देता है उसी प्रकार सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में आत्मा आता-जाता हुआ प्रतीत होता है। लेकिन अचल मायावी की तरह वह आत्मा

---

23. आत्मलाभान्न परं विद्यते (आप.ध. 1/22/2)
24. ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्। तदात्मानमेवावेत् अहं ब्रह्मास्मीति। (बृ.उ. 1/4/10)

अचल ही रहता है। जैसे दूध से निकाला गया घी पुनः उस दूध में मिला देने पर भी पूर्ववत् उसमें नहीं मिल पाता उसी प्रकार विद्वान पुनः अविवेकी नहीं हो सकता[25] क्योंकि अहंकारयुक्त पुरुष के लिए कर्म ही उसके बन्धन के हेतु होते हैं। निरहंकारी पुरुष के कर्म बन्धक नहीं होते। गीता में भी कहा गया है –

यस्य नांहकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते[26]
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।

अर्थात् जिस पुरुष के अन्तःकरण में 'मैं कर्त्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में लिप्त नहीं होती वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी वास्तव में न तो मारता है और न पाप से बँधता है।

एवञ्च जो इस आत्मा में अनेक रूपों को देखता है वह मृत्यु से भी मृत्यु को प्राप्त होता है।[27] जिस ब्रह्म से डरकर वाणी, मन और अग्नि अपना-अपना काम करने में प्रवृत्त होते हैं उस आत्मतत्त्व को जानने वाला पुरुष कभी भी किसी से भयभीत नहीं होता है। कठोपनिषद् में भी कहा गया है –

---

25. क्षीरात्सर्पिर्यथोद्धृत्य क्षिप्तं तस्मिन्न पूर्ववत्।
    बुद्धयादेर्ज्ञस्तथाऽसत्यान्न देही पूर्ववद्भवेत्।। (उपदेशसाहस्री 17/61)
26. श्रीमद्भगवद्गीता (18/17)
27. मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। (कठ.उ. 1/4/10)

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।।[28]

अर्थात् इस ब्रह्म के भय से अग्नि तपती है, इसी के भय से सूर्य तपता है, इसी के भय से विद्युत और वायु चेष्टा करते हैं तथा पाँचवां काल भी इसी के भय से दौड़ता है।

जिस प्रकार प्रकाशरूप सूर्य में दिन तथा रात्रि नहीं होती है उसी प्रकार आत्मा में न ज्ञान है और न अज्ञान क्योंकि वह तो ज्ञान और अज्ञान दोनों का ही साक्षी है। यह आत्मा समस्त भूतों में विद्यमान है और समस्त भूत आत्मा में निहित हैं अतः ब्रह्म अपूर्व, अनपर, अनन्तर और अबाह्य है।[29] जैसे चुम्बक अपने सान्निध्य मात्र से लोहे को नचाता है वैसे ही समस्त जगत् का परिभ्रमण करता हुआ भी यह (आत्मा) राजा के समान साक्षीमात्र होता है। इस प्रकार आत्मा निष्क्रिय, अकर्त्ता और अद्वितीय है।[30]

तत्त्वमसिप्रकरण में कुल दो सौ तैंतीस श्लोक हैं। इसमें 'तत्त्वमसि' इस उपनिषद् वाक्य के द्वारा जीव एवं ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया

28. कठोपनिषद् (2/3/3)
29. तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्। अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः। (बृ.उ. 2/5/19)
30 राजत्वसाक्षिमात्रत्वात्सान्निध्याद्भ्रामको यथा।
भ्रामयञ्जगदात्माहं निष्क्रियोऽकारकोऽद्वयः।। (उपदेशसाहस्री 17/80)

गया है। जिस प्रकार रज्जु में भ्रम के कारण होने वाली सर्प बुद्धि दूर हो जाती है उसी प्रकार तत्त्वमसि (तत्+त्वम्+असि) अर्थात् तू वह ब्रह्म है इस वेदान्त वाक्य के द्वारा अहं आदि अनात्म पदार्थों का निषेध हो जाता है। अतएव अपरोक्ष आत्मा ही ब्रह्म है।[31] यही सिद्ध होता है।

जिस प्रकार शास्त्र प्रमाण से धर्म के अस्तित्व का ज्ञान होता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञान से अज्ञान का विनाश होता है। यद्यपि 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'अहं करोमि' यह दोनों ही ज्ञान आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं लेकिन इनमें से 'अहं करोमि' अज्ञान युक्त होने के कारण त्यागनीय है। व्यवहारत: तो यह ज्ञान सत्य प्रतीत होता है लेकिन परमार्थत: सत्य नहीं है क्योंकि श्रुति-प्रमाण 'अहं ब्रह्मास्मि' से उसका बाध हो जाता है। जिस प्रकार पिता के द्वारा अपने दु:ख रहित आत्मा में पुत्र के दु:ख का आरोप कर लिया जाता है उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपने दु:खरहित आत्मा में 'अहं कर्त्ता' यह आरोप कर लेता है। लेकिन इस अहंकर्त्ता का 'नेति-नेति' श्रुति से निषेध हो जाता है। क्योंकि यह आत्मा तो सभी का द्रष्टा, प्रकाशक, नित्य, निर्गुण और अद्वितीय है।[32]

31. (अ) अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्य उ. 1/2)
(ब) स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदम् सर्वं तत्सत्यम् स आत्मा "तत्त्वमसि" श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच। (छा.उ. 6/8/16)

32. उपलब्धि: स्वयंज्योतिर्दृशि: प्रत्यक्सदक्रिय:
साक्षात्सर्वान्तर: साक्षी चेता नित्योऽगुणोऽद्वय:।। (उपदेशसाहस्री 18/26)

अतः चेतन आत्मा की सन्निधि में रहने के कारण अचेतन अहंकार भी उसी के समान चेतन सा प्रतीत होने लगता है जिससे अहं एवं मम् विषयक व्यवहार होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि केवल भ्रान्तिमात्र (अविद्यामात्र) ही संसार है और इस अविद्या का नाश होते ही मुमुक्षु मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

तृष्णाज्वरनाशकप्रकरण में केवल अट्ठाइस श्लोक हैं। यह प्रकरण देह-प्राप्ति रूप रोग को नष्ट करने वाली औषधि के विषय में बताता है। इस प्रकरण में सर्वप्रथम आत्मा और मन के संवाद के द्वारा संसार की नश्वरता एवं आत्मा की अमरता के विषय में बताया गया है। शङ्कराचार्य ने मानव जीवन का एकमात्र लक्ष्य मोक्ष ही माना है जबकि सामान्यतः मनुष्य विषयों के सम्पर्क से दुःखमय संसार का भोग करता रहता है और तृष्णा रूपी ज्वर से पीड़ित रहता है।[33] लेकिन ज्ञान, वैराग्य रूपी औषधि से तृष्णा रूपी ज्वर का नाश हो जाने पर मनुष्य फिर शरीर परम्परा को प्राप्त नहीं करता है।

शङ्कराचार्य मन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि यह आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप परमात्मा से भिन्न नहीं है अतः उसे किसी वस्तु की इच्छा

33. प्रयुज्य तृष्णाज्वरनाशकारणं चिकित्सितं ज्ञानविरागभेषजं।
न याति कामज्वरसन्निपातजां शरीरमालां शतयोगदुःखिताम्।। (उपदेशसाहस्री 19/1)

भी नहीं है। वस्तुतः इस निष्प्रपञ्च आत्मा ने तो छः उर्मिमालाओं[34] को भी पार कर लिया है। अतएव आत्मा, नित्य, अविकारी, प्रकाशरूप और अद्वय है। इसके विपरीत मन अभावरूप है एवं उसकी परमार्थ सत्ता भी नहीं है। आत्मा तो अद्वितीय है। उत्पत्ति न होने के कारण इसका नाश भी नहीं होता अतः इस आत्मा में सत् और असत् की कल्पना करना व्यर्थ है क्योंकि इस कल्पना का अधिष्ठान स्वयं आत्मा ही है।

यद्यपि आत्मा अकल्पित, अजन्य, अद्वय और अविनाशी है तथापि जो मनुष्य अज्ञानवश उसमें सत् और असत् की कल्पना करते हैं वे सर्वदा स्वबुद्धिभ्रम से कल्पित जन्म, जरा व मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं।[35] इसके विपरीत जो मनुष्य नित्य प्रकाशमय आत्मा का साक्षात्कार कर लेते हैं वह सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। वस्तुतः अज्ञान का नाश आत्मज्ञान से ही होता है इसके अतिरिक्त किसी अन्य ज्ञान से नहीं हो सकता।[36] जिस प्रकार ईंधन से रहित अग्नि स्वयं ही शान्त हो जाती है उसी प्रकार अपनी उत्पत्ति के कारण (मोह) से रहित हो जाने पर मिथ्याज्ञान भी आत्यन्तिक रूप से निवृत्त हो जाता है।

34. अशनाया, पिपासा, शोक, मोह, जरा एवं मृत्यु ये छः उर्मियाँ हैं। ये उर्मियाँ प्राण, मन और देह की धर्मरूप हैं और नदी की तरंग की तरह इनका भी आर्विभाव और तिरोभाव होता रहता है। (उ.सा. 19/4)
35. अकल्पितेऽप्येवमजेऽद्वयेऽक्षरे विकल्पयन्तः सदसच्च जन्मभिः।
    स्वचित्तमायाप्रभवं च ते भवं जरां च मृत्युं च नियान्ति संततम्।। (उपदेशसाहस्री 19/19)
36. नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायं (श्वेताश्वरोपनिषद् 3/8/6, 15)

समस्त उपनिषदों के सार गद्य-पद्य उभयात्मक इस उपदेशसाहस्री के पूर्वार्द्ध भाग को समाप्त करके गद्य भाग का आरम्भ किया गया है। उत्तरार्द्ध भाग में सर्वप्रथम शिष्यानुशासनप्रकरण आया है। इसमें कुल चौवालिस अनुच्छेद हैं। इसका प्रारम्भ अथ शब्द से किया गया है। यद्यपि अमरकोश में अथ शब्द के अनेक अर्थ हैं[37] किन्तु यहाँ पर श्रवणमात्र से मङ्गलार्थक होते हुए भी अनन्तर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तत्पश्चात् यह कहा गया है कि साधन चतुष्ट्य सम्पन्न अधिकारी ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अतः शमादि से सम्पन्न मुमुक्षु शिष्य को ही गुरु को उपदेश देना चाहिए। इस विषय में श्रुति का भी वचन है - ''यद्यप्यस्माइमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूयः'' इति।[38] अर्थात् समुद्र से घिरी हुई और धन से पूर्ण पृथ्वी को भी न ग्रहण करने वाला शिष्य ही इस ब्रह्मविद्या को ग्रहण करने का अधिकारी है। गुरु का कर्तव्य है कि शिष्य को सर्वप्रथम आत्मा के एकत्व का उपदेश दे - जैसे हे सौम्य! पहले यह एक अद्वितीय सत् ही था,[39] यह किसी अन्य को नहीं देखता,[40] यह सब आत्मा ही है।[41] निश्चय ही यह सब ब्रह्म ही है।[42]

37. 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्र्न्यष्वथोऽथ' (अमरकोश)
38. छा.उ. (3/11/6)
39. सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् (छा.उ. 6/2/1)
40. यत्र नान्यत्पश्यति (छा.उ. 7/24/1)
41. आत्मैवेदं सर्वम् (छा.उ. 7/25/2)
42. सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छा.उ. 3/14/1)

आत्मैकत्व के बाद शिष्य को ब्रह्म का लक्षण बताना चाहिए। जैसे आत्मा पापरहित है,[43] साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है[44] तथा आत्मा इन्द्रिय का विषय भी नहीं है।[45] इस प्रकार चराचर जगत् उसी ब्रह्म से ओत-प्रोत है। इन श्रुतियों की तरह स्मृतियाँ भी ब्रह्म के असंसारित्व को प्रतिपादित करती हैं – 'ना जायते म्रियते वा'[46] अर्थात् वह न कभी उत्पन्न होता है, न मरता है और वह किसी के पाप को भी ग्रहण नहीं करता है। अतएव ब्रह्म सभी प्राणियों में समभाव से स्थित रहता है। इस प्रकार उपदेश देने के पश्चात् गुरु को मुमुक्षु शिष्य की परीक्षा लेनी चाहिए क्योंकि अविद्या का समूल नाश हो जाने पर मुमुक्षु ब्रह्म ही हो जाता है।[47]

उपदेशसाहस्री के उत्तरार्द्ध भाग का द्वितीय प्रकरण कूटस्थाऽद्वयात्मबोध-प्रकरण है। इस प्रकरण में कुल बहत्तर अनुच्छेद हैं। इसमें आत्मा की कूटस्थता एवं अद्वयता को बताया गया है। कोई मुमुक्षु शिष्य जब गुरु से पूछता है कि जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में मनुष्य दुःख का अनुभव क्यों करता है? तो गुरु उसे उपदेश

43. य आत्माऽपहतपाप्मा (छा.उ. 8/7/1)
44. यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म (बृ.उ. 3/4/1)
45. पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः। (कठ.उ. 2/1/1)
46. श्रीमद्भगवद्गीता (2/20)
47. अविद्यायामुन्मूलितायां श्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यः अनन्तरोऽबाह्यः......
.....न साध्यसाधनोत्पत्तिप्रलयादिभेदेनाशुद्धिगन्धोऽप्युपपद्यते। (उ.सा. गद्य 1/43)

देते हैं कि अविद्या के कारण ही मनुष्य दुःखादि का अनुभव करता है। जैसे रोग के निवृत्त हो जाने पर रोगी अपने पहले की अवस्था को प्राप्त हो जाता है[48] उसी प्रकार अविद्या के निवृत्त हो जाने पर मनुष्य जन्म-मरण वाले संसार से मुक्त हो जाता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।

देहादि, रूपादि से युक्त होने के कारण घट-पटादि के समान जड़ है। देहादि, चेतन आत्मा से सम्बन्धित होने के कारण चेतन के समान प्रतीत होते हैं किन्तु इनका आत्मा के बिना कोई स्फुरण नहीं देखा जाता, क्योंकि वे स्वरूपतः अध्यस्त हैं। सामान्यतः कोई भी अध्यस्त वस्तु बिना किसी अधिष्ठान के नहीं हुआ करती और यह अधिष्ठान नित्य एवं कूटस्थ आत्मा ही है।

जैसे प्रकाशशून्य घटादि पदार्थ प्रकाश से व्याप्त होने पर ही जाने जाते हैं, वैसे ही शब्दादि विषय भी अन्तःकरण वृत्ति के तदाकार होने पर ही अवगत होते हैं। अतः अन्तःकरण की जितनी भी ज्ञात-अज्ञात वृत्तियाँ हैं आत्मा उन सभी का प्रकाशक है। जैसे नेत्र घर के सामने का भाग ही देख सकता है, पीछे के भाग को नहीं देख सकता है वैसा आत्मा नहीं है। आत्मा ज्ञात-अज्ञात रूप से विद्यमान सभी वृत्तियों

48. रोगनिमित्तनिवृत्ताविव रोगी स्वभावं प्रतिपद्येयेति (उपदेशसाहस्री गद्य 2/2)

यह प्रश्न करते हैं कि सम्पूर्ण दृश्य सुख-दुःख मोहात्मक प्रकृति का कार्य है इसे मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? इसका समाधान इस प्रकार है कि इस सुख-दुःख मोहात्मक की प्रमाणाभाव होने के कारण कोई सत्ता ही नहीं है। जिस प्रकार लोक व्यवहार में रज्जु-सर्प एवं मृग-मरीचिका आदि की प्रतीति के अतिरिक्त उनका अभाव ही दृष्टिगोचर होता है उसी प्रकार नित्य एवं कूटस्थ आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं दिखायी पड़ता। क्योंकि जो परमार्थतः सत्य है और जिसका किसी काल में अभाव न हो उसी को सत् कहा जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है -

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

अर्थात् सद् वस्तु से विलक्षण असद्रूप इस जगत् की सत्ता नहीं हो सकती और सत्स्वरूप ब्रह्म की असत्ता नहीं हो सकती।

परिसंख्यानप्रकरण में केवल पाँच अनुच्छेद हैं। इनमें अविद्याजनित राग-द्वेषादि और उनके फलों की निवृत्ति के उपाय बताये गये हैं। देह, इन्द्रिय, मन बुद्धि, प्राण व अंहकार आदि साक्ष्य पदार्थ अनात्म होने के कारण त्यागनीय हैं। इनके पश्चात् अवशिष्ट जो आत्मतत्त्व है वही सबका साक्षी है। जिस प्रकार मिट्टी के ढेले (लोष्ट)आदि को कोई ज्ञान नहीं हो पाता उसी प्रकार शरीरादि रूप में परिणत हुए उन सूक्ष्मभूत शब्दादि विषयों को भी किसी प्रकार का ज्ञान

नहीं होता। उन सबका ज्ञाता तो एक, अविनाशी एवं अविषय आत्मा है।[52] जैसे मुष्टिप्रहार से आकाश की कोई हानि नहीं की जा सकती उसी प्रकार शीत, उष्ण, मृदु एवं कठोर प्रियाप्रिय स्पर्शों से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। आत्मा के सन्दर्भ में कहा गया है कि - इसे पाप और पुण्य नहीं सताते।[53] यह कर्म से न बढ़ता है न घटता है।[54] यह बाहर भीतर विद्यमान और अजन्मा है।[55] यह अव्यक्त और अचिन्त्य है।[56] यह अच्छेद्य और अदाह्य है।[57]

उपरोक्त श्रुतियों एवं स्मृतियों से सिद्ध होता है कि अनात्म वस्तु की कोई सत्ता नहीं है वरन् उन सबका साक्षी आत्मा निष्क्रिय, निर्गुण और निर्विकार है। इस प्रकार मिथ्याज्ञान के कारण होने वाले देहाभिमान का त्याग करके मुमुक्षु ब्रह्म ही हो जाता है।

इस प्रकार उपदेशसाहस्री के ज्ञानरूपी पुष्पों से शङ्कराचार्य ने मधुकर के समान, ज्ञानामृत रूपी मधु निकालकर हमारे समक्ष रख दिया है। जिसका आस्वादन करने के पश्चात् कोई भी पुनः संसार के अज्ञानरूपी सागर में अवतीर्ण नहीं होना चाहेगा।

52. तद्विज्ञातृत्वादेव स विज्ञाता सर्वशब्दादिधर्मविलक्षणः। (उपदेशसाहस्री गद्य 3/2)
53. नैनं कृताकृते तपतः। (बृ.उ. 4/4/22)
54. न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्। (बृ.उ. 4/4/23)
55. सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। (मु.उ. 2/1/2)
56. अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम् 0 (श्रीमद्भगवद्गीता 2/25)
57. अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम् 0 (श्रीमद्भगवद्गीता 2/24)

卐 तृतीय अध्याय 卐

उपदेशसाहस्री के प्रतिपाद्य विषय :

(क) प्रतिपाद्य विषयों का परिचय

(ख) प्रतिपाद्य विषयों का वर्गीकरण

(ग) प्रतिपाद्य विषयों का वैशिष्ट्य

(घ) प्रतिपाद्य विषयों का विवेचन

उपदेशसाहस्री के प्रतिपाद्य विषय

समस्त दर्शनों का शिरोमणि, भारतीय संस्कृति की उत्कृष्टता का द्योतक 'वेदान्त-दर्शन' जाज्वल्यमान नक्षत्र है और शङ्कराचार्य वेदान्तदर्शन के सूर्य हैं जिन्होंने अपने आलोक से, भ्रान्त दार्शनिकों का उपयुक्त मार्गदर्शन किया है। शङ्कराचार्य के अनुसार केवल सच्चिदानन्द ब्रह्म ही सत्य है इसके अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है। इसीलिए इनका सिद्धान्त अद्वैत सिद्धान्त कहलाता है। वेदान्त का प्रधान विषय ईश्वर है। वस्तुतः संसार के सभी धर्मों का प्रतिपादन ईश्वर ही है किन्तु ईश्वर की सीमाओं के निर्धारण से अनेक मतभेद सामने आने लगते हैं जबकि इन सब मतभेदों को पार कर लेने पर निर्विशेष प्रत्यगात्मा ही शेष रह जाता है। आचार्य शङ्कर ने इसी को अपना आधार बनाकर सभी सम्प्रदायों एवं मान्यताओं में व्यक्त ईश्वर के स्वरूप को व्यावहारिक दृष्टि से एक जैसा मानकर और पारमार्थिक दृष्टि से प्रत्यगात्मा से अभिन्न स्वीकार कर उसे अद्वय ब्रह्म में ही अर्न्तभूत कर दिया है।

आचार्य शङ्कर ने "उपदेशसाहस्री" में विभिन्न विषयों को उच्चकोटि के तर्कों एवं उदाहरणों द्वारा प्रतिपादित किया है। उपदेशसाहस्री के इन प्रतिपाद्य विषयों का विस्तृत एवं सारगर्भित अध्ययन करने की

दृष्टि से हम इन विषयों को निम्नलिखित चार रूपों में विभक्त कर सकते हैं -

(क) प्रतिपाद्य विषयों का परिचय

(ख) प्रतिपाद्य विषयों का वर्गीकरण

(ग) प्रतिपाद्य विषयों का वैशिष्ट्य

(घ) प्रतिपाद्य विषयों का विवेचन

(क) प्रतिपाद्य विषयों का परिचय :-

उपदेशसाहस्री शङ्कराचार्य द्वारा रचित एक प्रकरण ग्रन्थ है। यह पद्य एवं गद्य दो भागों में विभक्त है। इसके प्रथम भाग में वेदान्त के विभिन्न विषयों का प्रतिपादन किया गया है तथा द्वितीय भाग में गुरु-शिष्य संवाद के रूप में मोक्ष का उपदेश दिया गया है।

उपदेशसाहस्री में शङ्कराचार्य ने मानव जीवन के कल्याण के लिए जिन विषयों का प्रतिपादन किया है उनमें आत्मा, अविद्या, जीव, जगत् एवं मोक्ष प्रमुख हैं। इन विषयों के सम्यग् ज्ञान से मनुष्य इस संसार रूपी सागर से पार हो सकता है। इन विषयों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

(i) आत्मा :-

शङ्कराचार्य के दर्शन का मूलाधार उपनिषद् साहित्य था। उपनिषदों के आधार पर ही शङ्कराचार्य ने उपदेशसाहस्री में भी आत्मतत्त्व का प्रतिपादन किया है। शङ्कराचार्य ने केवल ब्रह्म की सत्ता को ही स्वीकार किया है और इसीलिए उन्होंने उपदेशसाहस्री में आत्मा का विवेचन जीव और ब्रह्म की एकरूपता के द्वारा प्रतिपादित किया है। शङ्कराचार्य ने उपदेशसाहस्री के नान्यदन्यत्प्रकरण में आत्मा को मन और वाणी के ज्ञान से परे बताया है। श्रुति भी इसका समर्थन करती है - 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा'।[1] उपदेशसाहस्री के सम्यङ्मतिप्रकरण में भी आत्मा को सब ओर व्याप्त बताया गया है।[2] जैसे सूर्य अकेला ही अपनी जन्मविनाशशून्य रश्मियों के द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता हुआ स्थित रहता है उसी प्रकार सर्वज्ञ एवं सर्वसाक्षी आत्मा भी समस्त पदार्थों को अच्छी तरह से जानता है। तृष्णाज्वरनाशकप्रकरण में आत्मा को अद्वितीय ब्रह्म के रूप में प्रतिपादित किया गया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि जागृत, स्वप्न एवं सुषप्ति इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी होने पर भी आत्मा एक है। यहाँ तक कि श्रुतियाँ भी आत्मा की एकता का ही प्रतिपादन करती हैं।[3]

1. मु.उ. (3/1/8)
2. सेतुं सर्वव्यवस्थानामहोरात्रादिवर्जितम्
   तिर्यगूर्ध्वमधः सर्वं सकृज्ज्योतिरनामयम्। (उ.सा. 17/77)
3. (क) सलिल एको द्रष्टाऽद्वैत भवति। (बृ.उ.4/3/32)
   (ख) अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक् सर्वैनमिभिः सहाप्येति (कौ.3/3)

इसी प्रकार उपदेशसाहस्री के गद्यभाग में गुरु ने शिष्य को सर्वप्रथम यह उपदेश दिया है कि शरीर नश्वर है, आत्मा अजर और अमर है। मन, बुद्धि, देह, इन्द्रिय आदि आत्मा नहीं है; आत्मा केवल एक सत् है तथा जिसे यह ज्ञात हो चुका है उसके लिए शोक और मोह हमेशा के लिए समाप्त हो जाते हैं।[4] जैसे सूर्य को अपने प्रकाशन के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती उसी प्रकार अपने प्रकाश से युक्त आत्मा को किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि यह उसका स्वरूप ही है।

(ii) अविद्या :-

उपदेशसाहस्री के प्रतिपाद्य विषयों के क्रम में अविद्या का स्थान प्रमुख है क्योंकि अविद्या के कारण ही मुमुक्षु को आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं हो पाता और वह जन्म-मृत्यु के प्रवाह में पड़ा रहता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं- ''एकत्वधी: विद्या अन्यधी: अविद्या।'' अर्थात् जीव और आत्मा में एकता की बुद्धि को विद्या और इस एकत्व से पृथक् बुद्धि को अविद्या कहते हैं। उपदेशसाहस्री में शङ्कराचार्य ने इसका समर्थन करते हुए कहा है कि शरीरादि अनात्म पदार्थों में जो अंहता एवं ममता होती है वही अविद्या है।[5]

4. तत्र को मोह: क: शोक:। (ई.उ. 7)
5. ममाहं चेत्यतोऽविद्या शरीरादिष्वनात्मसु (उ.सा. 17/46)

उपदेशसाहस्री में अविद्या के लिए अज्ञान, अध्यास, उपाधि व माया आदि शब्दों का वर्णन मिलता है जिससे स्पष्ट होता है कि शङ्कराचार्य ने इन सबको पर्यायवाची माना है। ग्रन्थ के सम्यङ्मतिप्रकरण में कहा गया है कि यह सारा संसार अविद्या से उत्पन्न हुआ है और अविद्यावान अर्थात् अविवेकी व्यक्ति को ही दिखायी देता है, विवेकी व्यक्ति को नहीं, क्योंकि अविद्या की भाँति विद्या का ज्ञान सर्वसाधारण को नहीं होता। इसी प्रकार तत्त्वमसिप्रकरण में कहा गया है कि अविद्या के कारण ही मनुष्य बन्धन में पड़ता है और इस बंधन का नाश विद्या से ही संभव है।[6] शङ्कराचार्य का कथन है कि जिस प्रकार नट रंगमंच पर अनेक रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार अविद्या के द्वारा उत्पत्ति, विनाश आदि धर्मों के द्वारा एक ही ब्रह्म के अनेक रूप दिखायी पड़ते हैं।[7] इसके अतिरिक्त अविद्या अपने आवरण और विक्षेप शक्ति के द्वारा जीव के वास्तविक स्वरूप की जानकारी भी नहीं होने देता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मोक्ष तक पहुँचने के लिए अविद्या को समझना अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए शङ्कराचार्य ने उपदेशसाहस्री में मोक्ष प्राप्ति के लिए अविद्या की निवृत्ति को सहायक

6. ब्रह्मास्मीति च विद्येयं नैव कर्तेति बाध्यते।
   सकामो बद्ध इत्येवं प्रमाणाभासजातया।। (उपदेशसाहस्री 18/226)
7. शा.भा. गीता (18/48)

बताया है।[8] क्योंकि अविद्या का ज्ञान होने पर ही उसकी निवृत्ति हो सकती है। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य में भी कहा गया है कि अविद्या से सांसारित्व होता है और उसकी निवृत्ति से मोक्ष प्राप्त होता है।[9]

(iii) जीव :-

शङ्कराचार्य ने अपने अन्य ग्रन्थों की भाँति उपदेशसाहस्री में भी जीव को ब्रह्म से अभिन्न विषय मानकर उसका सफलतापूर्वक प्रतिपादन किया है। 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' इस सिद्धान्त से स्पष्ट होता है कि वस्तुतः जीव ब्रह्म ही है। शङ्कर के अनुसार अविचार से जो जीव है, विचार से वही ब्रह्म है। ग्रन्थ के तत्त्वमसिप्रकरण में शङ्कर ने स्पष्ट रूप से जीव को ब्रह्म की संज्ञा प्रदान की है।[10] जीव आत्मा का आभासमात्र है तथा जीव और ब्रह्म में जो भेद दिखायी देता है वह सत्य नहीं है। एक ही आत्मा, उपाधि के कारण विभिन्न जीवों के रूप में दिखायी देता है। जिस प्रकार एक ही आकाश उपाधि भेद के कारण घटाकाश, मठाकाश आदि रूप में दिखायी पड़ता है उसी प्रकार एक ही आत्मा शरीर और मनस् की उपाधियों के कारण अनेक दिखायी पड़ता है।

8. अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः (उपदेशसाहस्री 16/63)
9. अविद्याकृतत्वात्संसारित्वस्य (ब्र.सू.शा.भा. 1/2/11)
10. स्वार्थस्य ह्यप्रहाणेन विशिष्टार्थसमर्पकौ।
    प्रत्यगात्मावगत्यन्तौ नान्योऽर्थोऽर्थाद्विरोध्यतः।। (उ.सा. 18/173)

शङ्कर के मतानुसार जीव वस्तुतः ब्रह्म ही है अतः चैतन्य स्वरूप होना उसका स्वाभाविक धर्म है। जीव अचेतन शरीर का स्वामी है और शरीर में जो चेतना हमें प्रतीत होती है वह शरीर और बुद्धि आदि जड उपाधियों की न होकर आत्मा की होती है।[11] क्योंकि जिस समय जीव शरीर से रहित होता है अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो जाता है उस समय शरीर निष्चेष्ट हो जाता है। मृत्यु के समय शरीर में से प्राण भी जीव का अनुगमन करते हुए ही बाहर निकलते हैं।[12] इस प्रकार चेतन जीव, शरीर का स्वामी तो है ही साथ में प्राणों को धारण करने वाला भी सिद्ध होता है।[13]

उपदेशसाहस्री के ईश्वरात्मप्रकरण में भी जीव के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। शङ्कर के अनुसार जीव जो कि चेतन का एकमात्र अपरोक्ष रूप है ब्रह्मापरोक्षता का स्थल हो सकता है, जीव की उपाधियों से ही वह जीव है अन्यथा ब्रह्म ही है।[14] ग्रन्थ के शिष्यानुशासनप्रकरण में जीव का विषय श्रुतियों और स्मृतियों की सहायता से स्पष्ट किया गया है।

11. ओमित्येवं सदात्मानं सर्व शुद्धं प्रपद्यथ। (उ.सा. 17/76)
12. यस्योत्क्रमणमनुप्राणाधुत्क्रमणम् (शा.भा.बृ.उ. 4/3/35)
13. जीवो हि नाम चेतनः शरीराध्यक्षाः प्राणानाधारयिता (शा.भा.बृ.उ. 1/5/7)
14. ईश्वरश्चेदनात्मा स्यान्नासावस्मीति धारयेत्.........
    ....अज्ञेयत्वेऽस्य किं तैः स्यादात्मत्वे त्वन्यधीहनुति (उ.सा. 3/1, 2)

इस प्रकार 'जीव' उपदेशसाहस्री के प्रमुख प्रतिपाद्य विषयों में से एक विषय है क्योंकि इस विषय की जानकारी मुमुक्षु को अपने उद्देश्य की पूर्ति में सहायता प्रदान करती है।

(iv) जगत् :-

उपदेशसाहस्री में शङ्कराचार्य ने जगत् को एक मिथ्या विषय मानकर प्रतिपादित किया है। शाङ्कर सिद्धान्त 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' के अनुसार केवल अद्वैत ब्रह्म ही सत्य है तदतिरिक्त समस्त चराचर जगत् मिथ्या है। शङ्कर ने जड जगत् और आत्मा के स्वभाव को अन्धकार और प्रकाश के समान एक दूसरे के विरूद्ध माना है। आत्मा प्रकाशरूप है तो जगत् अन्धकार स्वरूप। आत्मा सत्-चित-आनन्द रूप है तो जगत् मिथ्या है।

उपदेशसाहस्री के तत्त्वमसिप्रकरण में कहा गया है कि संसार केवल अविद्या मात्र ही है।[15] उनके अनुसार विवेक ज्ञान के पूर्व जगत् की सत्ता का अनुभव सभी को होता है, इसलिए व्यवहार रूप में जगत् सत् प्रतीत होता है किन्तु विवेकज्ञान के पश्चात् जगत् मिथ्या लगने लगता है इसलिए परमार्थतः जगत् असत् है। अविवेक के कारण आत्मा में कर्ता, भोक्ता की बुद्धि उत्पन्न हो

15. अविद्यामात्र एवातः संसारोऽस्त्वविवेकतः (उ.सा. 18/45)

जाती है यही बुद्धि का अविवेक संसार है, इस अविवेक के अतिरिक्त अन्य कोई संसार नहीं है।[16] जिस प्रकार विवेक ज्ञान के पूर्व रज्जु में प्रतीयमान सर्प रज्जु की सत्ता से ही सत्तावान प्रतीत होता है उसी प्रकार यह जगत् असत् होने पर भी कूटस्थ आत्मा की सत्ता से सत्तावान प्रतीत होता रहता है।[17]

उपदेशसाहस्री के सम्यङ्मतिप्रकरण में ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण कहा गया है। आचार्य ने आकाशादि बहुप्रपञ्च जगत् को कार्य और ब्रह्म को उस जगत् का कारण कहा है।[18] शङ्कर के अनुसार ब्रह्म अधिष्ठान है और जगत् उस अधिष्ठान का अध्यस्त तत्त्व है। सत्-ब्रह्म और असत् जगत् का सम्बन्ध अनिवर्चनीय है। क्योंकि यदि जगत् सत्य होता तो सुषुप्ति में भी उसकी प्रतीति होनी चाहिए थी किन्तु उस समय ऐसा नहीं होता जो इस बात का द्योतक है कि जगत् स्वप्न के समान असत् और मिथ्या है।[19]

(V) मोक्ष :-

उपदेशसाहस्री के अनेक प्रकरणों में शङ्कराचार्य ने मोक्ष का प्रतिपादन इस प्रकार से किया है जिससे कि मोक्ष इस ग्रन्थ का

16. अविवेकोऽप्यनाद्योऽयं संसारो नान्य इष्यते (उ.सा. 16/61)
17. रज्जु सर्पो यथा रज्ज्वा सात्मकः प्राग्विवेकतः।
    अवस्तुसन्नपि ह्येष कूटस्थेनात्मना तथा।। (उ.सा. 18/46)
18. कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चजगत्, कारणं परं ब्रह्म। (ब्र.सू.शा.भा. 2/1/14)
19. यदि सत्यं भवेद्विश्वं सुषुप्तावुपलभ्यताम्।
    यान्नोपलभ्यते किञ्चिदतोऽसत्स्वप्नवन्मृषा।। (विवेकचूड़ामणि 236)

मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रतीत होने लगता है।

मोक्ष शब्द की निष्पत्ति मुच् (मोचनार्थक) धातु में भावे घञ् प्रत्यय होने पर निष्पन्न होती है, जिसका अर्थ है निवृत्त होना। आत्मबोध होने पर अध्यासजन्य मिथ्या बन्धन से छुटकारा पाने का नाम ही मोक्ष है। इस मिथ्याबन्धन की मूलभूता अविद्या की निवृत्ति होने पर ही जीव मुक्त कहा जाने लगता है। शङ्कराचार्य ने मोक्ष का स्वरूप निर्धारण करते हुए कहा है कि ब्रह्मभाव ही मुक्ति या मोक्ष है और चूँकि ब्रह्म पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाश के समान सर्वव्यापी, समस्त विक्रियाओं से रहित निरवयव और स्वयंप्रकाशस्वरूप है इसलिए अशरीरी मोक्ष का स्वरूप भी यही मानना चाहिए। आचार्य का कथन है कि मोक्ष की स्थिति में धर्म और अधर्म अपने कार्य, सुख-दुःख के साथ तीनों कालों में भी सम्बन्ध नहीं रखते। इसी शरीर रहित स्थिति को मोक्ष कहा गया है।[20]

उपदेशसाहस्री के पार्थिवप्रकरण में शङ्कर ने कहा है कि अज्ञान का नाश ही मोक्ष है।[21] वस्तुतः आत्मा का इस मिथ्या जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं होता तथापि अज्ञान के कारण वह जगत् से

---

20. इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थं नित्यं ....
 तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम् (ब्र.सू.शा.भा. 1/1/4)
21. मोक्षस्तन्नाश एव स्यान्नान्यथाऽनुपपत्तितः।
 येषां वस्त्वन्तरापत्तिर्मोक्षो नाशस्तु तैर्मतः।। (उ.सा. 16/62)

सम्बन्ध बना लेता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति स्त्री-पुत्रादि के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझने लगता है। इसी मिथ्या बन्धन से छुटकारा पाने पर ही जीव मुक्त कहलाता है। किन्तु जिस प्रकार छोड़े हुए बाण की निवृत्ति वेग का क्षय होने पर ही होती है उसी प्रकार जिस कर्म का फल प्रवृत्त हो चुका है उसकी निवृत्ति शरीरपात होने पर ही होती है। जब तक पूर्वकृत कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता, तब तक मुक्त पुरुष को भी शरीर धारण करना ही पड़ता है।

उपदेशसाहस्री के सम्यङ्मतिप्रकरण में मोक्ष का विमोचन करते हुए शङ्कराचार्य ने कहा है कि अविद्या का नाश होते ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह अविद्यानाशरूपी मोक्ष ज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है क्योंकि ज्ञान ही अज्ञान का विरोधी है। इसीलिए मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति को सब कर्मों का परित्याग करके आत्मज्ञान को ही प्राप्त करना चाहिए।[22]

(ख)प्रतिपाद्य विषयों का वर्गीकरण :-

अद्वैतवाद के प्रतिपादक शङ्कराचार्य ने केवल ब्रह्म को ही अद्वैत सत्य माना है। शाङ्कर अद्वैतवाद का मूल सिद्धान्त 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या

22. अन्यदृष्टिस्त्वविद्या स्यात्तन्नाशो मोक्ष उच्यते।
ज्ञानेनैव तु सोऽपि स्याद्विरोधित्वान्न कर्मणा। (उ.सा. 17/7)

जीवो ब्रह्मैव नापरः' है। इस सिद्धान्त के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव ही ब्रह्म है। जगत् और जीव की द्वैतानुभूति का निराकरण करके एकमात्र ब्रह्म को सत्य स्वीकार करना ही अद्वैतवाद है। उपदेशसाहस्री में भी शङ्कराचार्य ने अपने अद्वैत दर्शन अर्थात् ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान कराने के लिए विभिन्न विषयों, यथा-आत्मा, अविद्या, जीव, जगत् एवं मोक्ष आदि का प्रतिपादन किया है। इन प्रतिपाद्य विषयों का वर्गीकरण निम्नलिखित दो आधारों के अनुसार किया जा सकता है -

(i) विषयानुक्रमानुसार वर्गीकरण

(ii) सत्तास्वरूपानुसार वर्गीकरण

(i) विषयानुक्रमानुसार वर्गीकरण :-

ग्रन्थ के प्रारम्भिक प्रकरणों में सर्वप्रथम 'आत्मा' के प्रतिपादन की झलक प्राप्त होती है। शङ्कराचार्य ने आत्मा को ही ब्रह्म कहा है। उनके अनुसार आत्मा नित्य, निर्विशेष, निर्विकल्प, निश्चल, निर्विकार, असङ्ग, अद्वैत एवं कूटस्थ है। वस्तुतः आत्मा एक स्वयंसिद्ध प्रत्यय है, उसे जब दृष्टा मानते हैं तो उसकी स्वयंसिद्धता की पुष्टि भी हो जाती है। साधारणतः जो वस्तु स्वयंसिद्ध नहीं होती उसे प्रमाणित करने के लिए तर्कों की आवश्यकता होती है, आत्मा तो ज्योतियों की भी ज्योति है इसलिए उसे प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं

पड़ती। आचार्य शङ्कर आत्मा और ब्रह्म में अभेद मानते हैं और इसीलिए उपदेशसाहस्री में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन आते ही वे आत्मा को प्रथम प्रतिपाद्य विषय के रूप में स्पष्ट करते हैं।

उपदेशसाहस्री में शङ्कराचार्य ने आत्मा के बाद 'अविद्या' का विषय रखा है क्योंकि अविद्या के कारण ही मनुष्य आत्मा को शरीर, इन्द्रिय आदि समझता रहता है जबकि वास्तव में आत्मा का शरीर, इन्द्रिय आदि से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उपदेशसाहस्री में सत्य ही कहा गया है कि शरीर रहित होने के कारण आत्मा में पुण्य-पाप, मोक्ष-बन्धन एवं वर्णाश्रम - धर्म आदि भी नहीं है, यह शरीर परम्परा तो स्वप्नदृश्य के समान मिथ्या है।[23] अविद्या के कारण ही मनुष्य अपने को कर्ता, भोक्ता समझता हुआ संसार में लिप्त रहता है। शङ्कराचार्य जड पदार्थों में आत्मदृष्टि अर्थात् अन्यदृष्टि को अविद्या बताते हैं।[24] आत्मा तो स्वाभावतः शुद्ध है[25] तथापि कुछ न चाहता हुआ भी आत्मा अविद्या के कारण सब कुछ करता है। स्थित रहता हुआ भी तेजी से दौड़ने वाले मन से भी आगे निकल जाता है, अजन्मा होने पर भी अनेकों प्रकार का कहा जाता

---

23. इदं तु सत्यं मम नास्ति विक्रिया विकारहेतुर्न हि मेऽद्वयत्वतः।
    न पुण्यपापे न च मोक्षबन्धने न चास्तिवर्णाश्रमताऽशरीरतः।। (उ.सा. 10/6)
24. अन्यदृष्टिस्त्वविद्या स्यात्तन्नाशो मोक्ष उच्यते। (उ.सा. 17/7)
25. निर्गुणं निष्क्रियं नित्यं निर्द्वन्दं यन्निरामयम्।
    शुद्धं बुद्धं तथा मुक्तं तद्ब्रह्मास्मीति धारयेत्।। (उ.सा. 17/81)

है।[26] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है उपदेशसाहस्री में आत्मा के पश्चात् अविद्या की व्याख्या के द्वारा आचार्य शङ्कर मुमुक्षु का पथ निष्कंटक करना चाहते हैं क्योंकि अविद्या या अज्ञान का नाश ही मोक्ष दिलाता है।

उपदेशसाहस्री में शङ्कराचार्य ने आत्मा और अविद्या की जानकारी प्रदान करने के पश्चात् 'जीव' के स्वरूप का वर्णन किया है क्योंकि आत्मा ही शरीरादि उपाधियों से युक्त होने पर अविद्या के कारण जीव कहलाता है अब चूँकि आत्मा को शङ्कर ने पहले ही ब्रह्म कहा है अतः उपरोक्त स्पष्टीकरण के अनुसार जीव भी ब्रह्म ही सिद्ध होता है। शङ्कर का कथन 'तत्त्वमसि' जीव और ब्रह्म की अभिन्नता को ही प्रकट करता है। इसके अतिरिक्त 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' और 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' आदि श्रुतियों से भी जीव का वस्तुतः ब्रह्म होना ही ज्ञात होता है। इसी प्रकार उपदेशसाहस्री के ईश्वरात्मप्रकरण में भी जीव-ब्रह्म ऐक्य का प्रतिपादन किया गया है।[27] ग्रन्थ के गहन अध्ययन से यह तथ्य उभर कर सामने आता है कि शङ्कर जीव को आत्मा का वैयक्तिक (individual) रूप तो मानते हैं किन्तु जीव का ब्रह्म से भेद उन्हें सर्वथा अस्वीकार्य है।

---

26. अकुर्वन्सर्वकृच्छुद्धस्तिष्ठन्नत्येति धावतः।
मायया सर्वशक्तित्वादजः सन् बहुधा मतः।। (उ.सा. 17/79)
27. आत्मनोऽन्यस्य चेद्धर्मा अस्थूलत्वादयो मताः। (उ.सा. 3/2)

उपदेशसाहस्री के प्रतिपाद्य विषयों के क्रम में जीव के बाद 'जगत्' का उल्लेख भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में आत्मा अविद्या के वशीभूत होकर जीव के रूप में शरीरादि उपाधियों को ग्रहण करता है तत्पश्चात् वह जगत् के भ्रमजाल में फँस जाता है। अत: शङ्कराचार्य द्वारा आत्मा, अविद्या तथा जीव के विषय के स्पष्टीकरण के पश्चात् जगत् के स्वरूप का वर्णन करना अपने अन्तर्गत एक महान उद्देश्य को छुपाये हुए है। शङ्कर के अनुसार ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में जगत् मिथ्या है किन्तु सांसारिक मनुष्यों को जगत् सत्य प्रतीत होता है। जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक अपनी माया शक्ति से विचित्र सृष्टि की रचना करता है उसी प्रकार ईश्वर भी अपनी मायाशक्ति से विचित्र जगत् की रचना करता है। उसकी इच्छा होती है तो सृष्टि का निर्माण कर देता है और इच्छा होने पर उसे समेट भी लेता है। इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय ब्रह्म पर ही अवलम्बित है[28]। अत: शरीरधारी जीव (मनुष्य) को इस वास्तविकता का सम्यक् ज्ञान होना आवश्यक है।

उपदेशसाहस्री का मुख्य और अन्तिम विषय 'मोक्ष' प्रतीत होता है क्योंकि आत्मा, अविद्या, जीव और जगत् की वास्तविकता से परिचित मुमुक्षु के लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता है, उसके

---

28. ब्र.सू.शा.भा. (शास्त्रयोनित्वात् सूत्र में)

पूर्वसञ्चित संस्कार नष्ट हो जाते हैं, फलस्वरूप ब्रह्म की सत्यता में उसे अटल विश्वास हो जाता है। जब मुमुक्षु तत्त्वमसि की अनुभूति करता है तब वह ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त करके अहं ब्रह्मास्मि कह उठता है। इसके बाद जीव और ब्रह्म का भेद हट जाता है, बन्धन का अन्त हो जाता है और मुमुक्षु को मोक्ष की अनुभूति होती है। जिस प्रकार कोई भयभीत व्यक्ति यदि भय के स्थान से निकलकर भय रहित स्थान पर पहुँच जाये तो वह पुनः भय के स्थान पर नहीं जायेगा[29] उसी प्रकार मुमुक्षु भी एक बार ब्रह्म के स्वरूप को जान लेने के पश्चात् कुछ अन्य जानना नहीं चाहता।

(ii) सत्तास्वरूपानुसार वर्गीकरण :-

उपदेशसाहस्री के प्रतिपाद्य विषयों का वर्गीकरण जगत् की सत्ता के स्वरूपों के अनुसार भी किया जा सकता है। शङ्कर ने जगत् की सत्ता के लिए निम्नलिखित तीन कोटियाँ निर्धारित की हैं -

(अ) प्रातिभासिक सत्ता (Apparent Existence)

(ब) व्यावहारिक सत्ता (Practical Existence)

(स) पारमार्थिक सत्ता (Supreme Existence)

प्रातिभासिक सत्ता के अन्तर्गत वे विषय आते हैं जो भ्रम

29. सभयादभयं प्राप्तस्तदर्थं यतते च यः।
स पुनः सभयं गन्तुं स्वतन्त्रश्चेन्न गच्छति।। (उ.सा. 18/228)

के कारण उत्पन्न होते हैं। अर्थात् प्रातिभासिक सत्ता का अभिप्राय यह है कि जो स्थिति पूर्वकाल में भ्रम के कारण सत्य-सी प्रतीत हो रही हो वही स्थिति उत्तरकाल में सत्यज्ञान के द्वारा बाधित होकर यथार्थ अर्थात् मिथ्या प्रतीत होने लगे। भ्रम के कारण पहले रज्जु में सर्प की प्रतीति प्रातिभासिक सत्ता का दृष्टान्त है क्योंकि दीपक का प्रकाश होते ही अविद्यारूपी भ्रम की निवृत्ति हो जाती है और सर्पबुद्धि नष्ट हो जाती है। इस दृष्टान्त से स्पष्ट है कि उपदेशसाहस्री का प्रतिपाद्य विषय 'अविद्या' जो कि सब प्रकार के भ्रमों का मूल कारण है प्रातिभासिक सत्ता के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है।

व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत वे विषय आते हैं जो हमारी जाग्रत अवस्था में सत्य प्रतीत होते हैं किन्तु तार्किक दृष्टि से खण्डित होने की क्षमता रखते हैं इसीलिए इन्हें पूर्णतः सत्य नहीं माना जाता है। शङ्कर के मतानुसार 'जगत्' को व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत रखा जा सकता है क्योंकि जगत् व्यावहारिक दृष्टिकोण से पूर्णतः सत्य है, जगत् तभी असत्य होता है जब जगत् की व्याख्या तार्किक दृष्टि से की जाती है।

पारमार्थिक सत्ता शुद्ध सत्ता है जो न बाधित होती है और न जिसके बाधित होने की कल्पना की जा सकती है। उपदेशसाहस्री के शेष प्रतिपाद्य विषय यथा 'आत्मा', 'जीव' तथा 'मोक्ष' को पारमार्थिक

सत्ता के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है क्योंकि शङ्कराचार्य के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र परमतत्त्व है और आत्मा[30], जीव तथा मोक्ष की परिणति अन्ततः परमब्रह्म में ही होती है। इसके अतिरिक्त तार्किक दृष्टि से इन विषयों का कोई बाध भी नहीं होता है अतः निश्चित रूप से ये विषय पारमार्थिक सत्ता का ही भाग हैं।

(ग) प्रतिपाद्य विषयों का वैशिष्ट्य :-

उपदेशसाहस्री में आचार्य शङ्कर ने जिन विभिन्न विषयों का प्रतिपादन किया है वे विषय बहूद्देशीय होने के साथ-साथ बहूपयोगी भी हैं। मानव-कल्याण की दृष्टि से प्रत्येक विषय किसी न किसी प्रकार के वैशिष्ट्य से ओत-प्रोत है। प्रतिपाद्य विषयों में मुख्यतः निम्नलिखित प्रकार के वैशिष्ट्य मुखरित होते हैं -

(i) व्यावहारिकता

(ii) व्यापकता

(iii) सहिष्णुता

(iv) एकात्मता

(i) व्यावहारिकता :-

उपदेशसाहस्री में विभिन्न विषयों का प्रतिपादन करते समय शङ्कराचार्य

---

30. विशुद्धिश्चात एवास्य विकल्पाच्च विलक्षणः।
उपादेयो न हेयोऽत आत्मा नान्यैरकल्पितः।। (उ.सा. 16/36)

ने उनके व्यावहारिक पक्ष का पूरा ध्यान रखा है। प्रतिपाद्य विषयों को जितना सिद्धान्त रूप में स्थापित करने का प्रयास किया गया है उतना ही ध्यान उन्हें व्यावहारिक जीवन में अपनाने पर भी दिया गया है।[31]

शङ्कर के अनुसार आत्मा और ब्रह्म की एकता का मुक्तदायी ज्ञान केवल मौखिक ज्ञान नहीं है बल्कि इस एकत्व का अव्यवहित अनुभव ही वास्तविक ज्ञान है। उनके विचार से कोई व्यक्ति ब्रह्म पर भले ही बड़ी कुशलता के साथ व्याख्यान दे ले, परन्तु उसमें ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप की अन्तर्दृष्टि का अभाव हो सकता है और इसके परिणामस्वरूप वह विभिन्न प्रकार की आसक्तियों से घिरा हो सकता है। इस प्रकार के मोह का कारण एकमात्र मिथ्याज्ञान (अज्ञान) ही है, मिथ्याज्ञान का नाश आत्मज्ञान से होता है तदतिरिक्त किसी अन्य ज्ञान से नहीं होता। जिस प्रकार ईंधन से रहित अग्नि स्वयं शान्त हो जाती है उसी प्रकार अपनी उत्पत्ति के कारण से रहित हो जाने पर मिथ्याज्ञान (अज्ञान) की भी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती।[32] शङ्कर ने मनुष्य के आत्मरूप और ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप में तादात्म्य माना है, किन्तु साथ ही यह सत्य भी समान

---

31. अनेकजन्मान्तरसंचितैर्नरो विमुच्यतेऽज्ञाननिमित्तपातकैः।
    इदं विदित्वा परमं हि पावनं न लिप्यते व्योम इवेह कर्मभिः।। (उ.सा. 16/71)
32. अतोऽन्यथा न ग्रहनाश इष्यते
    विमोहबुद्धेर्ग्रह एव कारणम्।
    ग्रहोऽप्यहेतुस्त्वनलस्त्वनिन्धनो
    यथा प्रशान्तिं परमां तथा व्रजेत्।। (उ.सा. 19/27)

रूप से स्वीकार करने में संकोच नहीं किया है कि यह तादात्म्य किसी प्रकार उससे छिप गया है। उपदेशसाहस्री में विभिन्न उपायों द्वारा इस आवरण को हटाने के कार्य को महत्त्व प्रदान करके शङ्कराचार्य ने अपने दर्शन के व्यावहारिक पक्ष को सुदृढ़ किया है।

इसी प्रकार शङ्कर ने जगत् को ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप होना भी सिद्ध किया है। शङ्कर के अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से जगत् निःसंदेह असत् है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा नहीं कहा जा सकता। व्यावहारिक दृष्टि से जगत् पूर्णतः सत्य है। जगत् ब्रह्म नहीं है किन्तु ब्रह्म के ऊपर आश्रित है। तर्क यह है कि जिसका आधार तो यथार्थ हो, किन्तु जो स्वयं यथार्थ न हो उसे यथार्थ का अभाव या व्यावहारिक रूप अवश्य कहा जायेगा और इस तर्क के आधार पर जगत् ब्रह्म का व्यावहारिक रूप हुआ।

शङ्कर ने उपदेशसाहस्री में मोक्ष को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है।।[33] किन्तु वे इसको भी व्यावहारिकता से सम्बद्ध करना नहीं भूले हैं। वे बलपूर्वक कहते हैं कि मोक्ष का अर्थ जगत् का तिरोभाव नहीं है, मोक्ष प्राप्त करने के बाद भी जगत् का अस्तित्व रहता है। अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति विश्व में रहकर ही

---

33. मोक्षस्तन्नाश एव स्यान्नान्यथाऽनुपपत्तितः।
 येषां वस्त्वन्तरापत्तिर्मोक्षो नाशस्तु तैर्मतः।। (उ.सा. 16/62)

की जाती है, यदि ऐसा नहीं माना जाये तो विश्व का विनाश प्रथम व्यक्ति की मोक्षानुभूति के साथ ही हो जाना चाहिए था, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। इस तर्क से यह तथ्य पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि मोक्ष की स्थिति को जगत् की व्यावहारिक सत्ता के साथ स्थापित करके शङ्कराचार्य ने वेदान्त दर्शन को पलायनवादी होने से बचा लिया है जो कि उनके प्रतिपाद्य वैशिष्ट्य को उजागर करता है।

(ii) व्यापकता :-

उपदेशसाहस्री में आचार्य शङ्कर द्वारा प्रतिपादित विषय अपने सार्थक सार-तत्त्व, सटीक दृष्टिकोणों एवं विस्तृत धरातल के कारण व्यापकता के वैशिष्ट्य से युक्त हैं। ये विषय स्वयं में परिपूर्ण हैं और इनको न तो अपने आगे और न पीछे ही किसी अन्य सामग्री की आवश्यकता है। इन विषयों को एक स्वतःसिद्ध पूर्ण इकाई माना जा सकता है जो कि केवल कलापूर्ण ग्रन्थों में ही पायी जाती है। इनके माध्यम से शङ्कराचार्य अपनी पूर्व निर्धारित कल्पनाओं को विस्तृत रूप से प्रस्तुत करते हैं तथा अपने लक्ष्य द्वारा शासित होते हुए अपने सब घटक अवयवों को स्थायी तथा युक्तिपूर्ण ढंग से साम्यावस्था में रखते हैं।

उपदेशसाहस्री का अनुशीलनयुक्त अध्ययन यह स्पष्ट संकेत देता है कि इसमें उठाये गये विभिन्न विषय एकमात्र शाश्वत सत्य (ब्रह्म) का गूढ़ निरीक्षण है[34] जो मनुष्य के तुच्छ जीवन की क्षुद्र चिन्ताओं से उन्मुक्त होने के कारण दिव्य हैं। उपदेशसाहस्री के पाठक को प्रतिपाद्य विषयों की व्यापकता की झलक इनमें फलीभूत जीवों के कल्याण की भावना द्वारा, आत्मा के वास्तविक स्वरूप की जानकारी द्वारा, अज्ञान (अविद्या) के नाश द्वारा[35], समस्त चराचर जगत् के विचार द्वारा तथा बन्धनमुक्त मोक्षावस्था द्वारा स्पष्ट रूप से प्राप्त होती है।

(iii) सहिष्णुता :-

संसार में प्रचलित सभी धर्मों का प्रतिपादन अन्ततोगत्वा ईश्वर ही है किन्तु ईश्वर के रूप के विषय में अनेक मतभेद हैं तथा भिन्न-भिन्न मत अलग-अलग माध्यमों से ईश्वर की प्राप्ति मानते है। शङ्कर ने भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है किन्तु वे ईश्वर प्राप्ति के माध्यम पर बल न देकर केवल मानव-कल्याण के लिए ही उसकी आवश्यकता का अनुभव करते हैं जिससे उनके विषय प्रतिपादन में सहिष्णुता का वैशिष्ट्य स्वतः मुखरित होने लगता

34. अज्ञानं कल्पनामूलं संसारस्य नियामकम्।
हित्वाऽऽत्मानं परं ब्रह्म विद्यान्मुक्तं सदाऽभयम्। (उ.सा. 16/17)

35. अज्ञानं तस्य मूलं स्यादिति तद्धानमिष्यते। (उ.सा. 1/5)

है। उपदेशसाहस्री के पार्थिवप्रकरण में वे कहते है कि "जो अभाव को भी जानता है वह जानने वाला कोई सत् ही होना चाहिए अन्यथा लोगों को भाव और अभाव का ज्ञान ही नहीं होगा, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है।"[36]

उपदेशसाहस्री में शङ्कर सभी मान्यताओं को व्यावहारिक दृष्टि से एक जैसा मानते हैं किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से निर्विशेष प्रत्यगात्मा से अभिन्न स्वीकार करके सहिष्णुता का अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों में सहिष्णुता की उक्त प्रकार की प्रवृत्ति न तो उनके अंधविश्वास का परिणाम है और न एक समझौते का साधन मात्र है, अपितु यह उनके क्रियात्मक धर्म के एक अनिवार्य अंग के रूप में है। उन्होंने सब मतों की सीमितता को पहचाना है और अपने प्रतिपाद्य विषयों में मुखरित 'ब्रह्म' को इन मतों की परिधि के अन्दर दबाकर रखने से निषेध किया है। इस प्रकार उपदेशसाहस्री के प्रतिपाद्य विषय शङ्कर के सर्वग्राही एवं सहिष्णुप्रकृति दर्शन की उदारता से ओत-प्रोत हैं तथा सदा ही विजातीय मतों का तिरस्कार करने की बजाय उन्हें अपने अन्दर समाविष्ट करने के वैशिष्ट्य को प्रकट करते हैं।

---

36. येनाधिगम्यतेऽभावस्तत्सत्स्यात्तन्न चेद्भवेत्।
भावाभावानभिज्ञत्वं लोकस्य स्यान्न चेष्यते। (उ.सा. 16/32)

(iv) एकात्मता :-

उपदेशसाहस्री में आचार्य शङ्कर ने आत्मा, अविद्या, जीव, जगत् तथा मोक्ष आदि विभिन्न विषयों को सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रतिपादित किया है। वास्तव में इन विषयों को किसी उपवन में खिले हुए विविध प्रकार के फूलों की संज्ञा दी जा सकती है जिनकी अद्भुत सुगन्ध से मानवजीवन सुरभित हो उठता है। जिस प्रकार विविध प्रकार के फूलों को एक साथ पिरोकर माला का निर्माण किया जाता है उसी प्रकार शङ्कराचार्य ने विभिन्न प्रतिपाद्य विषयों को एकसूत्र में ढालकर 'ब्रह्म' की सत्ता को स्थापित किया है। इसीलिए इन विषयों में एकात्मता का वैशिष्ट्य देखने को मिलता है।

उपदेशसाहस्री में आचार्यशङ्कर द्वारा स्थापित 'ब्रह्मस्वरूप', प्रत्यगात्मा से आरम्भ होता है तथा अविद्या के नाश के पश्चात्, जीव का उपभोग करता हुआ जगत् का भ्रान्तिपूर्ण भ्रमण करता है, तत्पश्चात मोक्ष प्राप्त करके ब्रह्म में विलीन हो जाता है। शङ्कर के अनुसार आत्मा वस्तुतः ब्रह्म ही है किन्तु अज्ञान से प्रभावित होने के कारण वह स्वयं को ब्रह्म से पृथक् समझने लगता है। इसी क्रम में वे स्पष्ट करते हैं कि जीव और आत्मा एक ही शरीर में अन्धकार और प्रकाश की तरह निवास करते हैं, किन्तु आत्मा की कूटस्थता

के विपरीत जीव अज्ञानी है और इसी कारण उसे भ्रामक जगत् में दु:खों को भोगना पड़ता है। अविद्या के नाश के पश्चात् आत्मा का ज्ञान हो जाने पर जीव दु:ख एवं बन्धन से छुटकारा पा जाता है तथा मोक्षावस्था को प्राप्त करता है। मोक्ष का तात्पर्य ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करना है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि उपदेशसाहस्री के प्रतिपाद्य विषय आपस में इस प्रकार से घुल-मिल कर एकाकार हो गये हैं कि उनको पूर्णतया अलग कर पाना असम्भव प्रतीत होता है लेकिन इन विषयों के एकाकार होने का लक्ष्य 'ब्रह्म' की प्राप्ति ही है।

(घ) प्रतिपाद्य विषयों का विवेचन :-

उपदेशसाहस्री के गहन अध्ययन से स्पष्ट होता है कि शङ्कराचार्य का एकमात्र उद्देश्य सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही प्रतिपादन करना है क्योंकि इस ग्रन्थ में उन्होंने सभी विषयों को अन्ततः ब्रह्म में ही अन्तर्भूत कर दिया है। शङ्कर के अनुसार संसार दो भागों में विभक्त है प्रथम-ज्ञाता या द्रष्टा एवं द्वितीय-ज्ञेय या दृश्य। यही ज्ञाता या द्रष्टा शङ्कराचार्य का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है क्योंकि इसी के कारण हम विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। संसार और संसार

विषयक समस्त ज्ञान इस ज्ञाता पर ही अवलम्बित है, यही समस्त विचार और व्यवहार का मूलाधार है। इस प्रकार द्रष्टा या ज्ञाता का स्वरूपबोध ही मनुष्य जीवन का परम पुरूषार्थ है। समस्त व्यवहार का अधिष्ठान होने से वही एकमात्र सत्य हैं वही इस निखिल प्रपञ्च का मूल है।[37] तात्पर्य यह है कि उस एक आत्मतत्त्व को जान लेने से सब पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। जैसे एक मृत्पिण्ड को जान लेने से मृत्तिका के समस्त घटादि कार्यों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है अथवा जैसे वटबीज में निहित अव्यक्त अणुबीज शक्ति को जान लेने से स्थूल वटवृक्ष के यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाता है, उसी प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड के कारणभूत अधिष्ठान चैतन्यतत्त्व को जान लेने से समस्त ब्रह्माण्ड के यथार्थ का बोध हो जाता है। आचार्य शङ्कर ने इसी चैतन्यतत्त्व अर्थात् ब्रह्म को सब विषयों का आधार कहा है और इसीलिए उन्होंने उपदेशसाहस्री में प्रतिपादित प्रत्येक विषय को निम्नलिखित प्रकार से ब्रह्म से सम्बद्ध कर दिया है -

(i) आत्मा और ब्रह्म :-

उपदेशसाहस्री में शङ्कर ने आत्मा और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन

---

37. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। (केनोपनिषद् 2/5)

बड़ी दृढ़ता और स्पष्टता के साथ बार-बार किया है।[38] क्योंकि इस आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। इसीलिए प्रो. पाल ड्यूसन ने भी स्वीकारा है कि शङ्कर का मुख्य सिद्धान्त आत्मा और ब्रह्म का अभेद है।[39] अत: इस अपरोक्ष आत्मा का साक्षात्कार मनुष्यमात्र के जीवन का चरम लक्ष्य है। इसे प्राप्त कर मनुष्य नश्वर संसार के सभी दोषों से मुक्त हो जाता है। शङ्कर के अनुसार नानात्व की उत्पत्ति तो अज्ञान से ही होती है वस्तुत: ब्रह्म का तो एक ही स्वरूप है तथा इस नानात्व का अस्तित्व तब तक माना जा सकता है जब तक ब्रह्म का ज्ञान सर्वात्मा के रूप में नहीं हो जाता है। आत्मज्ञान होने के पश्चात् तो मनुष्य के लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता है।[40]

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि आचार्य शङ्कर ने उपदेशसाहस्री में आत्मा को ही ब्रह्म बताया है। लेकिन इस वास्तविकता से साधारणत: सभी लोग अनभिज्ञ रहते हैं और शरीर, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि आदि को आत्मा समझकर सांसारिक बन्धनों में पड़े रहते हैं। ऐसे अज्ञान से पीड़ित लोगों के लिए शङ्कराचार्य ने उपदेशसाहस्री के रूप में ज्ञान की वह धारा प्रवाहित की है जिसमें स्नान करके

---

38. अहं परं ब्रह्म विनिश्चयात्मदृङ् न जायते भूय इति श्रुतेर्वच:। (उपदेशसाहस्री 10/10)
39. Outline of the Vedanta System of Philosophy (Page 1)
40. आत्मज्ञश्चेत्तथा (दा) कार्यं कर्तुमन्यदिहेच्छति।। (उ.सा. 14/13)

मानव कृत्-कृत्य हो गया है।

(ii) अविद्या और ब्रह्म :-

उपदेशसाहस्री में अविद्या अथवा अज्ञान के प्रतिपादन का एकमात्र प्रयोजन ब्रह्म का स्वरूप जानना प्रतीत होता है। क्योंकि अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर ही आत्मसाक्षात्कार होता है और यह आत्मसाक्षात्कार मुमुक्षु को ब्रह्म के स्वरूप से परिचित करा देता है। ब्रह्म साक्षात्कार से पूर्व चित्तवृत्ति अज्ञान से लिप्त रहती है इसी कारण द्वैत का भान होता रहता है। शङ्कराचार्य ने इसी अज्ञान को माया और अविद्या भी कहा है। उनके अनुसार केवल ब्रह्म ही सत् है अविद्या का प्रपञ्च मिथ्या एवं मृगमरीचिका के समान है। अविद्या अभावात्मक होती है तथा ब्रह्म को न समझना ही इसका परिणाम है। अज्ञेय होना ही अविद्या का लक्षण है। अत: अवस्तु रूप होने के कारण प्रमाणों की कसौटी पर इसे नहीं कसा जा सकता है।[41] शङ्कर के अनुसार अज्ञान को प्रमाण द्वारा जानने की इच्छा तो वैसी ही है जैसे दीपक से अन्धकार को देखने की इच्छा।[42]

अज्ञान के कारण ही सांसारिक मनुष्य शरीर, इन्द्रियादि को आत्मा

41. अविद्याया अविद्यात्वमिदमेव तु लक्षणम्। (बृ.भा.वा. श्लोक सं 181)
42. अज्ञानं ज्ञातुमिच्छेद् यो मानेनात्यन्तमूढधी:।
    स तु नूनं तम: पश्येद् दीपेनोन्तमजसां।। (वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली)

समझकर 'मैं मोटा हूँ', 'दुबला हूँ', 'गोरा हूँ' इत्यादि शरीर के धर्म आत्मा पर आरोपित करता है तथा इसी प्रकार 'मैं गूंगा हूँ', 'बहरा हूँ', अन्धा हूँ' आदि इन्द्रिय के धर्म अपनी आत्मा पर आरोपित करता है। शङ्कर ने इनका खण्डन करते हुए बताया है कि ये शरीर, इन्द्रियादि आत्मा नहीं हो सकते क्योंकि ये वस्तुयें उसी प्रकार ज्ञान के विषय हैं जिस प्रकार कोई वृक्ष, मेज या कुर्सी हो। इस प्रकार अविद्या, माया या अज्ञान के कारण ही द्वैत की प्रतीति होती है फलस्वरूप नाना प्रकार के दुखों को भोगना पड़ता है।[43] शङ्कर के अनुसार ब्रह्मज्ञान के द्वारा इस अविद्या का नाश ही अद्वैत सिद्धान्त का परम लक्ष्य है। यद्यपि लौकिक दृष्टि से यह अज्ञान सत् प्रतीत होता है तथापि युक्तिपूर्वक विवेचन करने से यह अनिवर्चनीय सिद्ध होता है। क्योंकि आत्मज्ञान होने पर इसका नाश हो जाता है।[44] अतः उपदेशसाहस्री में शङ्कराचार्य का लक्ष्य अविद्या का नाश करके ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करना प्रतीत होता है।

(iii) जीव और ब्रह्म :-

उपदेशसाहस्री में शङ्कराचार्य का मुख्य उद्देश्य जीव का ब्रह्म

---

43. ईश्वर अंश जीव अविनासी चेतन अमल सहज सुखरासी।
 सो माया वश परेउ गुसाईं बंधेउ कीट मर्कट की नाईं।। (रामचरितमानस)
44. तुच्छानिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौत्रिधा
 ज्ञेया माया त्रिभिबौधैः श्रौतयौवितकलौकिकैः (पञ्चदशी 6/130)

से अभेद प्रतिपादित करना है। जिस प्रकार ब्रह्म से पृथक जगत् की सत्ता अविद्याजन्य है उसी प्रकार ब्रह्म और जीव का भेद भी अविद्याजन्य ही है। वस्तुतः तो जीव ब्रह्म ही है।[45] शङ्कर के अनुसार यह जीवात्मा देह नहीं है किन्तु ब्रह्म है, जड नहीं है किन्तु चेतन है, दृश्य नहीं है किन्तु दृष्टा है, परिछिन्न नहीं है किन्तु अपरिछिन्न (विभु) है। अतएव जीव की भी ब्रह्म के समान त्रिकालाबाधित पारमार्थिक सत्ता ही है। अतः ब्रह्म ही उपधियों के सम्पर्क में आकर जीव कहलाता है। शरीर तथा इन्द्रिय समूह के ऊपर शासन करने वाला एवं कर्मफल का भोग करने वाला यही जीव है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि उपदेशसाहस्री में शङ्कराचार्य जीव के वर्णन से भी ब्रह्म का स्वरूप ही प्रतिपादित करना चाहते हैं। इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि सत्, चित व आनन्दरूप होने के कारण जीव वस्तुतः ब्रह्म ही है। ब्रह्म के अतिरिक्त जीव की कल्पना करना भी व्यर्थ है।

(iv) जगत् और ब्रह्म :-

उपदेशसाहस्री में शङ्कराचार्य ने ब्रह्म को जगत् का अधिष्ठान माना है। उनके मतानुसार यद्यपि जगत् मिथ्या है फिर भी इसका

---

45. जीवो ब्रह्मैव नापरः (विवेकचूड़ामणि 20)

कुछ न कुछ आधार अवश्य है। जिस प्रकार रस्सी में दिखायी देने वाले साँप का आधार रस्सी है उसी तरह विश्व का आधार ब्रह्म है। जिस प्रकार साँप रस्सी के वास्तविक स्वरूप पर आवरण डाल देता है उसी प्रकार जगत् ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप पर आवरण डाल देता है और उसके रूप का विक्षेप जगत् यथार्थ प्रतीत होने लगता है। शङ्कर के अनुसार सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का विवर्त है। देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व ब्रह्म का रूपान्तरित प्रकटीकरण है परन्तु यह केवल प्रतीतिमात्र है। चूँकि ब्रह्म सत्य है तथा विश्व असत्य है। अतः सत्य ब्रह्म का रूपान्तर असत्य वस्तु में कैसे हो सकता है? ब्रह्म एक है, विश्व नानारूपात्मक है अतः एक का रूपान्तर अनेक में मानना हास्यास्पद है। ब्रह्म अपरिवर्तनशील है, विश्व परिवर्तनशील है, अपरिवर्तनशील ब्रह्म का रूपान्तर परिवर्तनशील विश्व में मानना भ्रामक है। डॉ. राधाकृष्णन् ने भी शङ्कर के जगत् सम्बन्धी विचार की व्याख्या करते हुए लिखा है - "यह जगत् निरपेक्ष ब्रह्म नहीं है, यद्यपि उसके ऊपर आश्रित है। जिसका आधार तो यथार्थ हो किन्तु जो स्वयं यथार्थ न हो, उसे यथार्थ का आभास या व्यावहारिक रूप अवश्य कहा जायेगा।"[46] इस प्रकार हम कह सकते है कि शङ्कर का जगत् ,ब्रह्म की व्यावहारिक सत्ता का प्रतीक है।

---

46. Indian Philosophy (Vol. II Page 584)

(V) मोक्ष और ब्रह्म :-

उपदेशसाहस्री में शङ्कराचार्य ने मोक्ष की व्याख्या इसके सभी प्रकरणों में की है। शङ्कर के मतानुसार आत्मा का शरीर और मन से अपनत्व का सम्बन्ध हो जाना बन्धन है। वस्तुतः आत्मा शरीर से भिन्न है किन्तु फिर भी वह शरीर की अनुभूतियों को निजी अनुभूतियाँ समझने लगता है। जब इस बन्धन का अन्त हो जाता है, तब जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। मोक्ष की अवस्था में जीव और ब्रह्म का भेद दूर हो जाता है। अर्थात् जीव ब्रह्म में उसी प्रकार विलीन हो जाता है जिस प्रकार वर्षा की बूँद समुद्र में मिलकर एकाकार हो जाती है। ब्रह्म आनन्दमय है इसलिये मोक्षावस्था को भी आनन्दमय माना गया है। मोक्ष का अर्थ शरीर का अन्त नहीं है बल्कि मोक्ष की अवस्था में जीव का ब्रह्म से एकाकार हो जाना है। मोक्ष की प्राप्ति के बाद भी मानव का शरीर कायम रह सकता है। शरीर तो प्रारब्ध कर्मों का फल है, जब तक इनका फल समाप्त नहीं हो जाता शरीर विद्यमान रहता है।

शङ्कर के मोक्ष सम्बन्धी विचार पर प्रकाश डालते हुए प्रो. हिरियन्ना ने कहा है – ''शङ्कर के मतानुसार मोक्ष कोई ऐसी अवस्था नहीं है जिसे प्राप्त करना है, बल्कि यह आत्मा का

स्वरूप ही है, इसलिए साधारण अर्थ में उसकी प्राप्ति के उपाय की बात नहीं की जा सकती। मोक्ष प्राप्त करने का अर्थ जीव द्वारा ब्रह्म के उस स्वरूप को पुनः जान लेना है जिसे कुछ समय के लिये वह भूल गया है।''[47]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शङ्कर ने जीव व ब्रह्म की तादात्म्यता को मोक्ष प्रतिपादन द्वारा सिद्ध किया है। उनके अनुसार जिस समय सम्पूर्ण कामनायें समाप्त हो जाती हैं उस समय मर्त्य अमर हो जाता है तथा वह इसी शरीर में ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

47. Outlines of Indian Philosophy (Page 378)

ꖦ चतुर्थ अध्याय ꖦ

उपदेशसाहस्री की तत्त्वनिर्णय की दृष्टि से उपादेयता :

(क) आत्मा का वास्तविक स्वरूप

(ख) अविद्या का आश्रय

(ग) जीव और परमात्मा में अभेद

(घ) जगत् का भ्रान्तिरूप

(ड) बन्धनों से मुक्ति

उपदेशसाहस्री की तत्त्वनिर्णय की दृष्टि से उपादेयता

उपदेशसाहस्री जीवन तथा जीवनेतर विषयों के तत्त्वज्ञान का एक ऐसा सागर है जिसके अन्दर मानव कल्याण के अनेक रत्न छिपे हुए हैं। इन रत्नों की रश्मियाँ मनुष्य के जीवन पथ को आलोकित कर देती हैं तथा मनुष्य बड़ी सरलता से अनेक गूढ़ रहस्यों का हल निकालकर सांसारिक बन्धनों को तोड़ने में सफल हो जाता है। इस ग्रन्थ रूपी ज्ञानसागर की अतल गहराइयों में आत्मा, अविद्या, जीव, जगत् तथा मोक्ष रूपी रत्नों की प्राप्ति होती है। अनुशीलन के दर्पण में इन विषयों की उपादेयता इस प्रकार से प्रतिविम्बित होती है –

(क) आत्मा का वास्तविक स्वरूप

(ख) अविद्या का आश्रय

(ग) जीव और परमात्मा में अभेद

(घ) जगत् का भ्रान्तिरूप

(ङ) बन्धनों से मुक्ति

(क) आत्मा का वास्तविक स्वरूप –

अपने अन्य ग्रन्थों की भाँति इस प्रकरण ग्रन्थ में भी शङ्कराचार्य ने आत्मा को ब्रह्म कहा है। व्यवहारतः मनुष्य अज्ञान के कारण आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझ पाता है, इसीलिए इन्द्रिय आदि को आत्मा मानकर सुखी और दुःखी होता रहता है। जबकि वास्तव में आत्मा निर्विशेष है। 'नेति-नेति'[1] श्रुति के द्वारा देह, इन्द्रिय आदि का निषेध हो जाने पर शुद्ध आत्मा ही शेष रहता है। प्रतिषेधप्रकरण में भी कहा गया है –

प्रतिषेद्धुमशक्यत्वान्नेति नेतीति शेषितम्।[2]
इदं नाहमिंद नाहमित्यद्धा प्रतिपद्यते।।

अर्थात् 'स एव नेति नेत्यात्मा गृह्यते' – यह आत्मा नहीं है, यह आत्मा नहीं है। इस प्रकार से अनात्म रूप देह, इन्द्रिय आदि का निषेध करते-करते जिसका निषेध नहीं हो पाया अर्थात् निषेध के योग्य न होने के कारण जो शेष रह गया, वही आत्मा है। यह मैं नहीं हूँ, यह मैं नहीं हूँ इस प्रकार प्रतिषेध करते-करते ही उस आत्मा की साक्षात् उप्लब्धि होती है।

---

1. अथात आदेशो नेति-नेति (बृ.उ. 2/3/6)
2. उपदेशसाहस्री (2/1)

विशेषापोहप्रकरण में आत्मा को समस्त विशेषणों से रहित कहा गया है। जिस प्रकार हाथ कट जाने के वाद 'मैं हाथ वाला हूँ' ऐसा नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार कृश, स्थूल, कृष्ण, एवं गौर आदि आत्मा के विशेषण नहीं हो सकते। क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में आत्मा की सत्ता रहने पर भी कृश, स्थूल आदि विशेषणों का अभाव रहता है। अतः आत्मा सत्, चित्, आनन्दस्वरूप है, क्योंकि आत्मा में सत्ता, चैतन्य, आनन्द का किसी अवस्था में कभी भी अभाव नहीं होता। यह आत्मा के विशेषण नहीं, अपितु उसके स्वरूप ही हैं।[3] एवञ्च सूर्य के समान आत्मा को अपनी सिद्धि के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती। मुण्डकोपनिषद् में आत्मा को ज्योतियों का ज्योति कहा गया है।[4]

सूक्ष्मताव्यापिताप्रकरण में आत्मा को सूक्ष्म और व्यापक बताया गया है। श्रुति भी आत्मा की सूक्ष्मता को सिद्ध करती है - "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्"।[5] अर्थात् आत्मा आकाश के समान शुद्ध चिन्मात्र और अद्वय है। समस्त भूतों में स्थित होकर भी आत्मा सदा उनके दोषों से अस्पृष्ट ही रहता है। इसी प्रकार समस्त अनित्य विषयों का साक्षी आत्मा उन विषयों को देखता हुआ भी नहीं देखता

---

3. उ.सा. (6/1)
4. तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः (मु.उ. 1/2/10)
5. मु.उ. (1/1/6)

है।[6] अर्थात् सत् आत्मा उन असत् विषयों को देखता हुआ भी नहीं देखता है।

यद्यपि आत्मा में रूपादि का अभाव है फिर भी रूप के न होने से वह नेत्र आदि का कर्म नहीं हो सकता है। श्रुति ने भी कहा है – ''अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्चयत्।''[7] इसी प्रकार आत्मा को वाणी आदि से भी नहीं ग्रहण किया जा सकता है। ''न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।''[8] अतः आत्मा में ज्ञान की कर्मता नहीं हो सकती क्योंकि वह अविषय नित्य, सूक्ष्म, व्यापक एवं सर्वान्तर है।[9]

दृशिस्वरूपपरमार्थदर्शनप्रकरण में आत्मा की कूटस्थता को सिद्ध किया गया है। आत्मा आकाश के समान व्यापक होकर भी इन्द्रियादि से परे है। जो अजन्मा, अविनाशी, अद्वितीय एवं सदा मुक्त ओंकार है वही मैं अर्थात् आत्मा हूँ। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा नित्य, शुद्ध और पाप से रहित है।[10] परमार्थतः किसी विषय से

---

6. यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति। नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तदद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं पश्येत्। (बृ.उ. 4/3/23)
7. क.उ. (1/3/15)
8. मु.उ. (3/1/8)
9. यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा (छा.उ. 7/24/1)
10. शुद्धमपापविद्धम् (ई.उ.8)

सम्बन्ध न होने के कारण आत्मा किसी का कर्म भी नहीं है, परिणामस्वरूप वह विकार से रहित है। इसी अभिप्राय को श्रुति भी सिद्ध करती है।[11] इसी प्रकार आत्मा की अविक्रियात्मकता को छान्दोग्योपनिषद ने भी सिद्ध किया है – "न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन्"।[12] अतः इदम् अनिदम् जो कुछ भी है वह सब आत्मा ही है और किसी अन्य भेदक के न रहने से प्रत्यगात्मा अपनी महिमा में स्थित रहता है। अर्थात् किसी के आधीन न रहने से वह अजन्मा एवं आविर्भाव रहित है।[13]

आत्मा न किसी कार्य का कारण है और न किसी का कार्य है। अपितु अत्यन्त निर्मल, अद्वितीय, अजर, अमर और स्वयंप्रकाश है।[14] आत्मा अनादि और निर्गुण है अतः उसका कोई कर्म या कर्मफल नहीं है।[15] जैसे आकाश सर्वव्यापक होने पर भी किसी वस्तु से लिप्त नहीं होता वैसे ही आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म होने के

11. अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र : (मु.उ.) तथा अस्थूलमनण्ह्रस्वमदीर्घम् (बृ.उ. 3/8/8)
12. छा.उ. (7/24/1)
13. आत्मैवेदं सर्वम् (छा.उ. 7/25/2)
14. न कारणं कार्यमतीव निर्मलः सदैकतृप्तश्च ततो विमुक्त ॐ।
    निर्मलः – निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति (मु.उ. 3/1/3)
    एकतृप्तः – आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन् (तै.उ. 2/9)
    अमृत – आनन्दरूपममृतं यद् विभाति। (मु.उ. 2/2/7)
    विमुक्त – विमुक्तश्च विमुच्यते (कठ. उ. 5/1)
15. अनादित्वान्निर्गुणत्वात् 0 (भ. गीता 14/31)

कारण शरीर में व्याप्त होने पर भी उससे लिप्त नहीं होता। जिसे "अहं ब्रह्मास्मि" इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है उसका पुनः जन्म नहीं होता।[16] जैसे बीज के न रहने पर फल नहीं उत्पन्न हो सकता, वैसे ही अज्ञान के न रहने पर मानव का पुर्नजन्म भी न हो सकेगा।[17]

प्रकाश प्रकरण में आत्मा को प्रकाश के समान सर्वत्र व्याप्त बताया गया है फिर भी जो अज्ञानवश देहादि को आत्मा मानते हैं वही दुःखी रहते है। अदेह तो स्वभावतः सुखी रहता है। जैसे शरीर के जिस भाग पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है उस स्थान विशेष पर ही गर्मी महसूस होती है, उसी प्रकार विषय के सम्पर्क से उत्पन्न सुख-दुःखादि का ताप अन्तःकरण पर पड़ने से मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ आदि की अनुभूति होती है। लेकिन विवेकज्ञान हो जाने के बाद कभी भी सुख-दुःखादि भासित नहीं होते। क्योंकि सबके विज्ञाता आत्मा का कोई भी विज्ञाता नहीं है। वस्तुतः आत्मा ही परम विज्ञाता है।[18] देहात्मबुद्धि के समान आत्मा में कर्ता, भोक्ता आदि भी मिथ्या है क्योंकि आत्मा की निष्क्रियता श्रुति से सिद्ध है।[19]

---

16. ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति (बृ.उ. 3/2/9)
17. अथ सोऽभयं गतो (तै.उ. 2/7)
18. "नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते।
    विज्ञातेर्न विज्ञातारं विजानीयाः"। (बृ.उ. 4/3/31)
19. निष्कलं निष्क्रियं शान्तम् (श्वे.उ. 6/19)

अचक्षुष्ट्वप्रकरण में आत्मा को शुद्ध और निश्चल बताया गया है। वस्तुतः शोक और मोह से रहित आत्मा में ज्ञान और अज्ञान का अभाव है।[20] बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि मुझमें चक्षु आदि इन्द्रियाँ नहीं हैं - ''अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः।''[21] इसी प्रकार काठक श्रुति के अनुसार ''अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं।''[22] अर्थात् मुझमें शब्द, स्पर्शादि का अभाव है। अतः आत्मज्ञान हो जाने के बाद मुमुक्षु को यह महसूस होने लगता है कि आत्मा न तो सत् पदार्थ है न असत्। न प्रत्यक्ष के योग्य है और न अयोग्य है तथा पञ्चभूतों से बना हुआ शरीर भी नहीं है। वरन् आत्मा ही समस्त प्राणियों का बोद्धा, समस्त कर्मों का द्रष्टा, साक्षी, प्रकाशक, नित्य, निर्गुण और अद्वय है।[23]

आत्मा त्रिगुणातीत है। उसके लिए न सन्ध्या है, न रात्रि है और न दिन है। क्योंकि आत्मा स्वयं इन सबका साक्षी स्वरूप है। एवञ्च आत्मा आकाश के समान सूक्ष्म और अद्वय है। लेकिन आकाश के बिना भी आत्मा की सत्ता सिद्ध है क्योंकि आत्मा

---

20. प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे मनसः शोकमोहकौ
    जरामृत्यू शरीरस्य षडूर्मिरहितः शिवः।। इति।
21. (बृ.उ. 3/8/8)
22. कठोपनिषद् (1/3/15)
23. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
    कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलोनिर्गुणश्च। (श्वे.उ. 6/11)

ही ब्रह्म है।[24] इस प्रकार विकार से रहित होने के कारण आत्मा न त्यागने योग्य है, न अदेय है।[25]

स्वप्नस्मृतिप्रकरण में आत्मा को ब्रह्म कहा गया है। वस्तुत: स्वप्न और स्मृति के समान जागृत ज्ञान भी मिथ्या है। इन अवस्थाओं का द्रष्टा आत्मा इन सबसे भिन्न है। इसी प्रकार शब्द से लेकर गन्धपर्यन्त विषय जड़ होने के कारण स्वयं प्रकाशित नहीं हो सकते, इन सबसे पृथक् आत्मा ही इनका प्रकाशन करता है। जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश किसी से सञ्चित और लिप्त नहीं होता उसी प्रकार सर्वत्र विद्यमान आत्मा भी समस्त प्राणियों में सदा समान रूप से व्याप्त अजर और अमर है।[26] अत: इससे स्पष्ट है कि जैसे आत्मा में अज्ञान का अभाव है वैसे ही उसमें चिन्ता और क्रिया का भी अभाव रहता है। श्रुति का वचन सत्य है कि आत्मा अप्राण, अमना और शुभ्र है।[27]

जिस प्रकार शुद्ध जल में डाला गया शुद्ध जल वैसा ही हो जाता है उसी प्रकार हे गौतम! विज्ञानी मुनि का आत्मा ब्रह्म

24. अयमात्मा ब्रह्म (माण्डू. 1/2)
25. न मे हेयं न चादेयमविकारी यतो ह्यहम्।
    सदा मुक्तस्तथा शुद्धः सदा बुद्धोऽगुणोऽद्वयः।। (उ.सा. 13/24)
26. समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
    विनश्यत्स्वविनश्यन्तंय: पश्यति स पश्यति।। (भगवद्गीता 13/27)
27. अप्राणो ह्यमना: शुभ्रो ह्यक्षरात्परत: पर:। (मु.उ. 2/1/2)

ही हो जाता है।[28] इस प्रकार जो अद्वय आत्मा को देहादि में देखने का यत्न करता है वह सूर्य और अग्नि को शीतल करने का निष्फल प्रयत्न करता है। इससे सिद्ध होता है कि जैसे स्वभावत: ही शुद्ध आकाश में मेघादि मल के निवृत्त हो जाने पर कोई विशेषता नहीं रहती है, वैसे ही समस्त द्वैतमल का निराकरण हो जाने पर साक्षी आत्मा सदा सत् ही रहता है।[29]

नान्यदन्यत्प्रकरण में आत्मा को निर्गुण, निरूपाधिक और कूटस्थ कहा गया है। अत: उसे मन और वाणी का विषय नहीं बनाया जा सकता है।[30] श्रुति भी यही कह रही है – 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा'।[31] आत्मा दृश्य नहीं है वह तो सबको देखने वाला अर्थात् दृष्टा है। क्योंकि जो ज्ञान का विषय होता है वह तो अल्प होता है।[32] अत: आत्मा ज्ञान का विषय न होने से सर्वज्ञ है।

इस प्रकार आत्मा नित्य ज्ञानस्वरूप है। किसी भी अवस्था में वह अज्ञात नहीं है। आत्मा को विषय नहीं बनाया जा सकता है–

28. यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतमेति (कठ.उ. 1/3/15)
29. सत्यस्य सत्यम् (बृ.उ. 2/3/6)
30 निष्कलो निगुर्ण: शुद्धस्तं मनो वाक्च नाप्नुत: (उ.सा. 15/29)
31. तै.उ. (2/9)
32. यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम् (के.उ. 2/1)

इसमें श्रुति प्रमाण है "यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद स:"।[33]

जिस प्रकार सूर्य को अपना स्वरूप प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य ज्योतिर्मय पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा को अपना बोध कराने के लिए किसी अन्य चैतन्य की आवश्यकता नहीं रहती।[34] क्योंकि यह नियम है कि जिस पदार्थ का जो स्वरूप होता है उसे अपने स्वरूप को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती। अत: ऐसा कोई भी प्रकाश नहीं है जो किसी अन्य प्रकाश से प्रकाशित होता हो।[35]

पार्थिवप्रकरण में द्वैतवाद और अनात्मवाद का खण्डन किया गया है और सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्ममय बताया गया है।[36] वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार भाव और अभाव दोनों का साक्षी कोई सत्, पदार्थ ही होना चाहिए अत: जो अभाव को भी जानता हो वही आत्मा है। इस प्रकार आत्मा में विकारों का अभाव है। श्रुति भी कहती है - वाचारम्भणं विकारो नामधेयं।[37] अत: आत्मा द्वैत

33. केनोपनिषद् 1/3
34. नान्येन ज्योतिषा कार्यं स्वेरात्मप्रकाशने।
स्वबोधान्नान्यबोधेच्छा बोधस्यात्मप्रकाशने।। (उ.सा. 15/41)
35. न तस्यैवान्यतोऽपेक्षा स्वरूपं यस्य यद्भवेत्।
प्रकाशान्तरदृश्यो न प्रकाशो ह्यस्ति कश्चन।। (उ.सा. 15/42)
36. सर्व ब्रह्ममयं जगत्। (बृ.उ. 1/5/1)

से विलक्षण है। यह न ग्राह्य है न त्याज्य है और न किसी अन्य तत्त्व के द्वारा कल्पित ही है। जैसे रज्जु में प्रतीयमान सर्प, रज्जु से भिन्न नहीं है उसी प्रकार सबका अधिष्ठान भूत आत्मा सबसे भिन्न नहीं अपितु अभिन्न ही है। इस प्रकार आत्मा नित्य और निरूपाधिक है।

सम्यङ्गमतिप्रकरण में आत्मा को सब ओर विद्यमान बताया गया है। अतः आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान ही परमार्थ ज्ञान है।[38] जैसे दीपक को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं होती वैसे ही आत्मा को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य बोध की अपेक्षा नहीं होती। क्योंकि आत्मा भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे सब ओर विद्यमान है।[39]

जिस प्रकार मायावी अपनी माया से बनाए हुए हाथी पर सवार होकर किसी दूसरे देश में जाकर पुनः वापस आता दिखायी पड़ता है उसी प्रकार जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में आत्मा भी आता-जाता हुआ दिखाई देता है। अचल मायावी के समान आत्मा अचल ही रहता है। जैसे मायावी का हाथी वस्तुतः हाथी नहीं है और न उस पर सवार कोई पुरुष है, उसी प्रकार ये

38. यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः (बृ.उ. 3/4/1)
39. तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्ममयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभुः (बृ.उ. 2/5/19)

अवस्थायें और उनका साक्षी दोनों ही वस्तुत: नहीं हैं केवल नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा ही है। इस प्रकार ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता सब कुछ आत्मा है।

तत्त्वमसिप्रकरण में अहं आदि अनात्म पदार्थों का निषेध किया गया है। अत: नित्य व अपरोक्ष आत्मा ही ब्रह्म है।[40] उपदेशसाहस्री में कहा गया है कि यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयंप्रकाश है, चित्स्वरूप है, प्रत्यक् सत् एवं अक्रिय है। यह साक्षात् सर्वान्तर्यामी सभी का द्रष्टा, प्रकाशक, नित्य, निर्गुण और अद्वितीय है।[41]

आत्मा को शब्द के द्वारा नहीं बताया जा सकता क्योंकि जाति आदि से रहित किसी भी पदार्थ को शब्द नहीं बता सकते। श्रुतियाँ भी आत्मा की निष्क्रियता को सिद्ध करती हैं।[42] अत: आत्मा की सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। वह तो स्वयं सिद्ध है।

तृष्णाज्वरनाशकप्रकरण में आत्मा को अद्वितीय कहा गया है। जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी एक ही आत्मा है। श्रुतियों ने सर्वत्र आत्मा की एकता को ही बताया है।[43]

40. अयमात्मा ब्रह्म (माण्डू. 1/2)
41. उपलब्धि: स्वयंज्योतिर्दृशि: प्रत्यक्सदक्रिय:।
साक्षात्सर्वान्तर: साक्षी चेता नित्योऽगुणोऽद्वय: (उ.सा. 18/26)
42. निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् (श्वे.उ. 6/19)
तथा साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च (श्वे.उ. 6/11)
43. सलिल एको द्रष्टाऽद्वैत भवति। (बृ.उ. 4/3/32)

आत्मा नित्य है अतः उसकी कभी भी उत्पत्ति नहीं होती। ऐसे नित्य आत्मा में सत् एवं असत् की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसलिए उसका अभाव भी नहीं है एवञ्च आत्मा कल्पना की अधिष्ठानभूत वस्तु है।

उपदेशसाहस्री के गद्यभाग के शिष्यानुशासनप्रकरण में गुरु द्वारा शिष्य को आत्मोपदेश दिया गया है कि आत्मा शरीर से भिन्न अजर और अमर है, शरीर तो नश्वर है। जिस प्रकार पहले घोंसले का नाश होने पर पक्षी दूसरे घोंसले में चला जाता है उसी प्रकार शरीर का नाश होने पर आत्मा पुनः-पुनः अन्य शरीर धारण कर लेता है। अतः आत्मा शरीर से भिन्न अर्थात् नित्य है। इस प्रकार आत्मा वस्त्रों की भाँति नवीन-नवीन शरीर को ग्रहण करता है।[44] श्रुतियाँ और स्मृतियाँ भी इसे स्पष्ट करती हैं - ''एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी''[45] एवं ''अविभक्तं विभक्तेषु''।[46]

इस प्रकार प्रत्येक शरीर में एक ही आत्मा स्थित है। अतः समस्त द्वैत मिथ्या है। केवल यह आत्मा ही सत् है। जिसे यह ज्ञात हो चुका है उसके लिए शोक क्या और मोह क्या?[47]

---

44. वांसासि जीर्णानि यथा विहाय (श्रीमद्भगवद्गीता 2/22)
45. श्वे.उ. (6/11)
46. श्रीमद्भगवद्गीता (18/20)
47. तत्र को मोहः कः शोकः (ई.उ. 7)

कूटस्थाऽद्वयात्मबोधप्रकरण में यह कहा गया है कि आत्मा स्वयं सिद्ध है उसकी सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती - "आत्मसिद्धिः प्रमाणं नोपक्षते"। जिस प्रकार लोहे और जल आदि में प्रकाशन अथवा गर्मी आदि के लिए अग्नि और आदित्य की अपेक्षा होती हैं क्योंकि वे उनके स्वभाव नहीं है परन्तु अग्नि या सूर्य को प्रकाशन या गर्मी के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि वे उनके स्वभाव ही हैं। उसी प्रकार स्वप्रकाशयुक्त आत्मा को प्रकाशान्तर की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि प्रकाश उसका स्वरूप ही है।

उपदेशसाहस्री ग्रन्थ के अन्त में परिसंख्यानप्रकरण में आत्मा एवं अनात्मा में भेद बताया गया है। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं प्राण आदि अनात्म पदार्थ हैं। इसलिए ये त्याज्य हैं, इसके अतिरिक्त बचा हुआ जो आत्मा है वही अदेय है। क्योंकि इसी के द्वारा सब कुछ जाना जाता है, वही सबका साक्षी है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जैसे, मुष्टि प्रहार से आकाश की कोई हानि नहीं की जा सकती उसी प्रकार सामान्य स्पर्श, शीत, उष्ण आदि स्पर्शों से, खट्टे-मीठे आदि रसों से एवं प्रिय व अप्रिय गन्धादि से आत्मा की कोई लाभ या हानि नहीं हो

सकती।[48] क्योंकि वह रूप, रस और गन्ध से रहित है। श्रुति भी कहती है - "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्"।[49]

(ख) अविद्या का आश्रय -

आचार्य शङ्कर ने इस संसार में आत्मा और अनात्मा दो प्रकार के पदार्थों को स्वीकार किया है। उन्होंने अनात्म पदार्थों को तो नाशवान होने के कारण मिथ्या सिद्ध कर दिया है किन्तु आत्मा या चेतन पदार्थों को परमार्थ सत् ब्रह्म ही माना है।

वेदान्त में अविद्या, माया, अज्ञान, प्रकृति, अव्यक्त, अध्यास और उपाधि आदि शब्द प्रायः पर्यायवाची माने गये हैं। किन्तु शङ्कराचार्य ने इनमें विशेष रूप से माया एवं अविद्या शब्दों का ही प्रयोग किया है। उपदेशसाहस्री में शङ्कराचार्य ने अविद्या की चर्चा अनेक प्रकरणों में की है।

प्रकाशप्रकरण में कहा गया है कि अविद्या के कारण मनुष्य को आत्मज्ञान नहीं हो पाता है क्योंकि अंहकार के वशीभूत होकर

48. व्योम्न इव मुष्टिघातादिभिः। तथा रूपसामान्येन तद्विशेषैश्च प्रियाप्रियैः स्त्रीव्यञ्जनादिलक्षणैररूपत्वान्न मम काचिद्धानिर्वृद्धिर्वा क्रियते। (उ.सा.गद्य 3/115)
49. कठ.उ. (3/15)

वह सदैव दुःखी रहता है। विवेकी पुरुष के अंहकार का नाश हो चुका रहता है इसलिए वह तो स्वभावतः सुखी रहता है।[50] इस प्रकार सबके विज्ञाता आत्मा का कोई विज्ञाता नहीं होता।

सम्यङ्मतिप्रकरण में कहा गया है कि यह सारा संसार अविद्या से उत्पन्न होने के कारण मिथ्या है और अविद्यावान पुरुष को ही दिखाई पड़ता है विवेकी पुरुष को नहीं। भगवतीश्रुति में कहा गया है –

"विद्याऽविद्ये श्रुतिप्रोक्ते एकत्वान्यधियौ हि नः
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शास्त्रे विद्या विधीयते।"

अतः अविद्या के समान विद्या (ज्ञान) का अनुभव सर्वसाधारण को नहीं होता है। इससे स्पष्ट होता है कि मात्र अविद्या ही संसार है। अविद्या के कारण ही मनुष्य स्त्री, पुत्रादि के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझते हैं और आत्मज्ञान न होने के कारण अविद्या कूटस्थ आत्मा की सत्ता से स्वयं अपने को सत्तावान समझती रहती है। ऐसा समझती हुई ही वह सर्वदा आत्मा में अवभासित होती है। अर्थात् यह अविद्या रूप संसार आत्मा में अवभासित होता रहता है।

50. यो वेदालुप्तदृष्टित्वमात्मनोऽकतृतां यथा।
ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः। (उ.सा. 12/13)

जिस प्रकार विवेक के पूर्व रज्जु में प्रतीयमान सर्प रज्जु की सत्ता से सत्तावान प्रतीत होता है उसी प्रकार यह संसार अविद्यारूप होने पर भी कूटस्थ आत्मा की सत्ता से सत्तावान प्रतीत होता रहता है।

एकत्वधीः विद्या अन्यधी अविद्या, अर्थात् ब्रह्मात्मैकत्व बुद्धि को विद्या कहते हैं और उनकी भेदबुद्धि को अविद्या कहते हैं। जिस प्रकार मुखादि का प्रकाश दर्पण की स्वच्छता पर निर्भर करता है उसी प्रकार चित्त की शुद्धता पर ही ज्ञान का प्रकाश होता है अन्यथा नहीं।

आत्मा जागृत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी होता है।[51] इनमें सुषुप्ति नामक तम को अज्ञान कहते हैं, यही स्वप्न और जागृत का मूल कारण है। आत्मज्ञान के द्वारा जब इस अज्ञान का नाश हो जाता है तब जले हुए बीज के समान वह फलोत्पादक नहीं होता है। वस्तुतः यह अज्ञान ही जागृत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का प्रतिरूप है। इस अज्ञान की निवृत्ति से ही सम्पूर्ण संसार की निवृत्ति हो जाती है। यह एक अज्ञान ही तीन रूपों में प्रतीत होता है। जागृत अवस्था में वैश्वानर रूप से 'विश्व' कहलाता है। स्वप्नावस्था में हिरण्यगर्भ रूप से 'तैजस' और

51. रूपस्मृत्यन्धकारार्थाः प्रत्यया यस्य गोचराः।
स एवात्मा समो द्रष्टा सर्वभूतेषु सर्वगः।। (उ.सा. 15/34)

सुषुप्ति अवस्था में अव्याकृत रूप से 'प्राज्ञ' कहा जाता है। अत: जब ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर अज्ञान रूप बीज जलकर नष्ट हो जाता है तब जले हुए बीज के समान, अज्ञान पुन: फल उत्पन्न नहीं करता। अर्थात् एक बार अविद्या का नाश हो जाने पर फिर वह कभी उत्पन्न नहीं हो सकती।

इस प्रकार जाग्रत, सुषुप्ति तथा स्वप्न आदि अवस्थायें तो मिथ्या हैं क्योंकि ये वाचारम्भण मात्र है।[52] जबकि आत्मा इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी है। जैसे आकाश सर्वत्र विद्यमान है उसी प्रकार यच्चयावत् समस्त भूत आत्मा में विद्यमान हैं और आत्मा समस्त भूत में विद्यमान है। जिस प्रकार प्रकाशरूप होने के कारण सूर्य में दिन और रात्रि का अभाव है, उसी प्रकार सत्, चित्, आनन्द रूप आत्मा में ज्ञान और अज्ञान दोनों का ही अभाव है।

शङ्कराचार्य ने अज्ञान या अविद्या को सत् और असत् से विलक्षण कहा है तथा अविद्या को माया का पर्यायवाची माना है।[53] अज्ञान को सत् नहीं कहा जा सकता क्योंकि आत्मा के समान उसका कभी भी बाध नहीं होना चाहिए, जबकि तत्त्वज्ञान से अज्ञान का बाध हो जाता है। इस प्रकार अज्ञान सत् नहीं हो सकता। अज्ञान

52. वाचारम्भणं विकारो नामधेय: (छा.उ. 6/1/4)
53. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य (1/4/3)

को असत् भी नहीं कह सकते क्योंकि वह वन्ध्यापुत्र के समान प्रतीति से परे नहीं हैं अज्ञान की प्रतीति तो होती ही है। अर्थात् ''मैं अज्ञ हूँ'' इस प्रकार अज्ञान का स्पष्ट भास हम सभी को होता है। एवञ्च अज्ञान न सत् है न असत् और न दोनों है। वह न ब्रह्म से भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न है। वह न अङ्गसहित है, न अङ्गरहित है और न उभयरूप है। आचार्य शङ्कर के अनुसार अज्ञान तो अत्यन्त अद्‌भुत और अनिर्वचनीय है।

अज्ञान त्रिगुणात्मक भी है क्योंकि तेज, जल और अन्न अज्ञान से उत्पन्न होते हैं[54] और तेज, जल तथा अन्न में क्रमशः लोहित, शुक्ल और कृष्ण ये तीन गुण विद्यमान होते हैं, इसीलिए इनका कारणभूत अज्ञान भी त्रिगुणात्मक ही होगा। बाद में लोहित को रजस, शुक्ल को सत्त्व और कृष्ण को तमस् कहा गया है। इस प्रकार अज्ञान भी सत्त्वरजस्तमोगुणात्मक ही कहलायेगा। गीता में भी माया को गुणमयी कहा गया है।[55]

अज्ञान ज्ञान का विरोधी है अर्थात् अज्ञान ज्ञान से ही दूर होता है। अज्ञान अभावरूप न होकर भावरूप है। यदि यह भावरूप न होकर अभावरूप होता तो उसकी निवृत्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

54. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्नीः
    प्रजाः सृजमानां सरूपाः (श्वेता. 4/5)
55. देवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। (गीता 7/14)

शङ्कराचार्य के अनुसार अविद्या की निवृत्ति आत्मज्ञान से ही होती है। ऐसा तभी हो सकता है जब अज्ञान भावरूप हो। लेकिन इससे अज्ञान को परमार्थ सत् भी नहीं समझ लेना चाहिए क्योंकि तब तो उसकी निवृत्ति असम्भव हो जायेगी, जबकि अज्ञान की निवृत्ति तो होती है। अतः जब तक आत्मज्ञान नहीं हुआ रहता तभी तक अज्ञान भावरूप लगता है और जब आत्मसाक्षात्कार हो जाता है तब अज्ञान पूर्णतः नष्ट हो जाता है और फिर दुबारा उत्पन्न नहीं होता।

वस्तुतः अज्ञेय होना ही अविद्या का लक्षण है। इसे प्रमाण के द्वारा नहीं बताया जा सकता। यह अवस्तु है क्योंकि ब्रह्म को छोड़कर समस्त जड़ पदार्थ अवस्तु कहलाते हैं। अज्ञान को प्रमाण के द्वारा जानने की इच्छा तो वैसी ही है जैसे अन्धकार को दीपक से देखने की इच्छा होती है। यह अज्ञान एक होकर भी समष्टि और व्यष्टि के भेद से दो प्रकार का होता है।

वृक्षों के समूह अर्थात् वन के समान अनेक जीवों के समूह को माया कहना समष्टि कहलाता है और प्रत्येक अलग-अलग वृक्ष के समान जीव को अविद्या कहना व्यष्टि कहलाता है। माया शुद्ध सत्त्वगुण से युक्त होने के कारण सर्वज्ञ ईश्वर कहलाता है और अविद्या मलिन सत्त्वगुण से युक्त होने के कारण प्राज्ञ कहलाता है। जिस प्रकार वन

और वृक्ष में समानता होती है उसी प्रकार अज्ञान की समष्टि और व्यष्टि में भी अभेद होता है केवल कथनमात्र में ही अन्तर लगता है। जैसे वन से आच्छादित आकाश और वृक्ष से आच्छादित आकाश एक ही है वैसे ही अज्ञान की समष्टि और व्यष्टि से उपहित ईश्वर और प्राज्ञ भी समान ही है। श्रुतियाँ भी ईश्वर और प्राज्ञ के एकत्व को सिद्ध करती है।[56]

अज्ञान की आवरण और विक्षेप नाम की दो शक्तियाँ भी होती हैं। मनुष्य को आत्मा के सत्, चित् एवं आनन्द (यथार्थ) रूप का ज्ञान न होना आवरणशक्ति कहलाती है। इसी प्रकार जो ब्रह्मा से लेकर समस्त नाम रूपात्मक जगत् की सृष्टि करता है उसे विक्षेपशक्ति कहते हैं। जैसे मकड़ी रुई एवं लकड़ी आदि किसी अन्य वस्तु के बिना भी अपना जाला बना लेती है उसी प्रकार ईश्वर भी बिना किसी की सहायता लिए केवल माया शक्ति के द्वारा सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि कर लेता है। इसीलिए शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र में ईश्वर को जगत् का उपादान और निमित्त कारण कहा है।[57]

उपदेशसाहस्री के तत्त्वमसिप्रकरण में कहा गया है कि केवल

56. एष प्राज्ञः सर्वेश्वरः (माण्डूक्य 6)
57. चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यस्मिन्नवधारिते
वेदार्थे परैरुपक्षिप्तान्विलक्षणत्वादीन्दोषान्पर्यहार्षीदाचार्यः (ब्र.सू.शा.भा. 2/1/37)

अविद्या ही संसार है। संसारी मनुष्य को आत्मज्ञान न होने के कारण आत्मा की सत्ता से अविद्या की सत्ता प्रतीत होती है। अर्थात् यह अविद्या रूप संसार आत्मा में अवभासित होता रहता है। जैसे विवेक के पूर्व रस्सी में ज्ञात होने वाला सर्प, रस्सी की सत्ता से ही सत्तावान प्रतीत होता है उसी प्रकार यह संसार अविद्यारूप होने पर भी आत्मा की सत्ता से सत्तावान प्रतीत होता रहता है।[58] जिससे संसारी मनुष्य कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व रूप संसार को सत्य समझता है और आत्मा का वास्तविक ज्ञान न होने के कारण जन्म मृत्युरूप संसार को प्राप्त होता रहता है।

शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य में कहा है कि मुक्त पुरुषों के बन्ध की पुनः उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि विद्या से बीजशक्ति रूपी अविद्या का नाश हो जाता है। अविद्या परमेश्वर की आश्रित, मायामयी एवं महासुषुप्ति है जिसमें स्वरूपज्ञान से अनिभज्ञ जीव सोते रहते हैं।[59] जैसे ही उन्हें जीव से ब्रह्म की अभिन्नता का ज्ञान होता है तुरन्त ही वे अविद्या का त्याग कर देते हैं। इस अविद्या रूप बीजशक्ति का विनाश आत्मविद्या के द्वारा ही सम्भव है –

58. रज्जुसर्पो यथा रज्ज्वा सात्मकः प्राग्विवेकतः।
अवस्तुसन्नपि ह्येष कूटस्थेनात्मना तथा।। (उ.सा. 18/46)

59. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या
परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः यस्यां
स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः। (ब्र.सू.शा.भा. 1/4/3)

''विद्यया तस्या बीजशक्तेदहात्''।[60]

उपदेशसाहस्री के तत्त्वमसिप्रकरण में शङ्कराचार्य ने कहा है कि जिस प्रकार पिता के द्वारा अपने दुःखरहित आत्मा में पुत्र के दुःख का आरोप कर लिया जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य अज्ञान के कारण अपने दुःखरहित आत्मा में अंहकारादि का आरोप कर लेता है। जबकि आत्मा सदा ही दुःखशून्य है। आत्मा तो दुःखादि का साक्षी है, उसका स्पर्श नहीं किया जा सकता तथा शरीर से भिन्न होने के कारण उसका दाह्य भी नहीं हो सकता है। फिर भी पुत्र के मरने पर उसे अपने ही मरण के समान जो दाहजनित दुःख होता है वह मिथ्या अभिमान ही है, वास्तविक नहीं है। ज़िस प्रकार स्थूल देह से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान होने पर उसमें चलनादि की क्रिया की निवृत्ति हो जाती है उसी प्रकार विवेकज्ञान के द्वारा दुःखादि की भी निवृत्ति हो जाती है।

अपने को ही भूल जाने के कारण जैसे दसवें व्यक्ति का ज्ञान[61] नहीं हो पाता है वैसे ही अनादि अविद्या के कारण अनेक

60. ब्र.सू.शा.भा. (1/4/3)
61. दस व्यक्ति किसी देश को जा रहे थे। रास्ते में नदी थी, सबने तैरते हुए नदी को पार किया। उस पार पहुँचने पर उनमें से कोई डूबा तो नहीं है यह देखने के लिए सभी को गिनने लगे। हर व्यक्ति अपने को गिनना भूल जाता था और वह कुल योग नौ ही लगाता था। किसी बुद्धिमान व्यक्ति ने बताया कि दसवाँ व्यक्ति तो गिनने वाला ही है - ''दशमस्त्वमसि'' के समान तू ब्रह्म हीं है। (उपदेशसाहस्री 18/172)

वासनाओं में फँसा हुआ व्यक्ति ज्ञानस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाता। अतः 'दशमस्त्वमसि' के समान 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य से मुमुक्षु पुरुष सभी के साक्षी आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। सामान्यतः संसार के कर्मों में लिप्त हुआ मनुष्य अपने को कर्त्ता एवं भोक्ता समझता रहता है यही अविद्या है। 'अहं ब्रह्मास्मि' के ज्ञान से इस अविद्या का नाश सम्भव है। अर्थात् अविद्या के मिथ्याज्ञान को आत्मज्ञान से दूर किया जा सकता है, इसके अतिरिक्त किसी अन्य ज्ञान से नहीं। सांसारिक मोह, माया का एकमात्र कारण अज्ञान ही है। जिस प्रकार ईंधन से रहित अग्नि स्वतः शान्त हो जाती है उसी प्रकार अपनी उत्पत्ति के कारण से रहित हो जाने पर मिथ्याज्ञान या अज्ञान की भी निवृत्ति हो जाती है।

शिष्यानुशासनप्रकरण में कहा गया है कि वस्तुतः जो कुछ संसार में देखा - सुना जाता है वह सब अविद्यायुक्त ही है। केवल एक आत्मा ही सत्य है। यही आत्मा अविद्यामयी दृष्टिवाले लोगों को अनेक सा प्रतीत होता है। जैसे तिमिर रोग से पीड़ित मनुष्य को अनेक चन्द्रमा दिखायी पड़ते हैं उसी प्रकार अविद्या के चक्र में फँसा हुआ मनुष्य बार-बार मृत्यु को प्राप्त करता रहता है।[62]

62. मृत्योः स मृत्युमाप्नोति (बृ.उ. 4/4/19, कठ.उ. 1/4/10)

इसी प्रकार समस्त द्वैत अविद्याकृत हैं अर्थात् केवल वाणी से उत्पन्न होने वाला विकार मात्र है।[63]

अविद्या के कारण ही संसार में दुःख की प्राप्ति होती है। जब विवेकज्ञान से अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है तब भ्रम का अभाव हो जाने से जन्म-मरण रूपी संसार से भी छुटकारा मिल जाता है तत्पश्चात् जागृत् और स्वप्न में उत्पन्न होने वाले दुःखों का भी अभाव हो जाता है।

निष्कर्षतः यह सिद्ध होता है कि अविद्या के कारण ही मनुष्य असंसारी आत्मा को अपने स्वभाव के विपरीत संसारी समझता है, अकर्त्ता होते हुए कर्त्ता, अभोक्ता होते हुए भोक्ता तथा विद्यमान होते हुए अविद्यमान मानता है। यही अविद्या ब्रह्म के स्वरूप को आवृत्त-सा कर लेती है और जगत् की रचना करती है। अविद्यावश ब्रह्म ही जीव होकर कर्त्ता तथा दुःखी होता रहता है। वस्तुतः जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है। सम्यक्ज्ञान से अविद्या का नाश हो जाने पर जीव अपने ही आश्रय ब्रह्मरूप में अवस्थित हो जाता है।

(ग) जीव और परमात्मा में अभेद –

शङ्कराचार्य ने जीव को ब्रह्म से भिन्न नहीं माना है वरन्

63. वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् (छा.उ. 6/1/4-6, 6/4/1-4)

ब्रह्मरूप ही कहा है। उपनिषदों में जीव को अजन्मा, नित्य और अविकारी कहा गया है। ''तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत''[64] अर्थात् जीव को रचकर आत्मा स्वयं उसमें प्रवेश कर लेती है। 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतियाँ भी जीवब्रह्मैक्य का प्रतिपादन करती है।

व्यावहारिक दशा में जीव और ब्रह्म का भेद तो शङ्कर को भी मान्य है किन्तु परमार्थतः एकमात्र अद्वय ब्रह्म की ही सत्ता है। शङ्कर के अनुसार अज्ञान के कारण ही जीव का जीवत्व है, परमार्थ रूप में तो जीव ब्रह्म ही है। जीव ही कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्व का अभिमान करने वाला है, जीव ही इस लोक एवं भोक्तृत्व का अभिमान करने वाला है, जीव ही इस लोक एवं परलोक में गमन करने वाला है। जिस प्रकार एक ही आकाश घट, मठ एवं कक्ष आदि के आश्रय से अनेक आकारों को प्राप्त करता है उसी प्रकार एक ही ब्रह्म अविद्या की उपाधि के कारण अनेक जीवों के स्वरूप को प्राप्त करता है। आचार्य शङ्कर ने ''ब्रह्मैव जीवः स्वयं''[65] कहकर जीव एवं ब्रह्म की एकता को सिद्ध किया है। वस्तुतः जीव की जीवता तभी तक है जब तक कि वह अविद्या से उपहित है। अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर जीव अपने वास्तविक

64. तैत्तरीय उपनिषद् (2/6)
65. विवेकचूड़ामणि (श्लोक सं. 395)

स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

उपनिषदों में जीव को अजन्मा, नित्य तथा अविकारी कहा गया है[66] तथा नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि के पश्चात् ब्रह्म की शरीर में जीवरूप से अवस्थिति कही गयी है।[67] इसके अतिरिक्त यह "आत्मा ब्रह्म है", "मैं ब्रह्म हूँ", "तुम वही हो"[68] आदि श्रुतियाँ भी स्पष्टतः जीव ब्रह्मैक्य का ही प्रतिपादन करती हैं।

उपर्युक्त श्रुतियों से तथा शङ्कर के द्वारा प्रतिपादित "जीवों ब्रह्मैव नापरः" इस सिद्धान्त से यह कदापि नहीं समझा जाना चाहिए कि जीव अपनी व्यावहारिक दशा में भी ब्रह्म से अत्यन्त अभिन्न है।

जीव आत्मा का वह स्वरूप है जो संसार के सारे कर्मों का उपभोग करता है लेकिन जब ब्रह्मज्ञान से अविद्या का नाश हो जाता है तब यही जीव ब्रह्म हो जाता है। श्रुति भी इस बात का समर्थन करती है - "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"।[69] अन्तःकरण से अवछिन्न चैतन्य, जीव और अविद्या से अवछिन्न चैतन्य, ईश्वर

66. अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः (क.उ. 2/5)
67. तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् (तै.उ.2/6)
    अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्यं नामरूपे व्याकरवाणीति (छा.उ. 6/3/2)
68. अयमात्मा ब्रह्म (माण्डू. 2)
    अहं ब्रह्मास्मि (बृ.उ. 1/4/10)
    'तत्त्वमसि' (छा.उ. 6/8/16)
69. बृ.उ. (3/24)

कहलाता है। इस प्रकार जीव की उपाधि अन्तःकरण और ईश्वर की उपाधि अविद्या है।

जागृत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं के आधार पर शङ्कराचार्य ने जीव के तीन प्रकार के शरीर माने हैं। जागृत अवस्था में जीव सारे स्थूल जगत् का उपभोग करता है, वाह्य विषयों को प्रकाशित करने वाला यह "वैश्वानर" कहलाता है। यह बहिष्प्रज्ञ वैश्वानर दक्षिण नेत्रद्वार में स्थित रहता है। इस समय यह अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश एवं आनन्दमयकोश से युक्त रहता है।

स्वप्नावस्था में जीव सूक्ष्म शरीर वाला होता है। अतः यह जीव की "तैजस" अवस्था कहलाती है। है। यह सूक्ष्म विषयों का भोक्ता अन्तःप्रज्ञ के नाम से जाना जाता है। इस समय यह प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमयकोश से युक्त रहता है।

जिस अवस्था में सोया हुआ पुरुष किसी भोग की इच्छा नहीं करता और न ही कोई स्वप्न देखता है उसे सुषुप्ति कहते हैं। सुषुप्ति अवस्था में अन्तःकरण का कार्य समाप्त हो जाने से अंहकार का नाश हो जाता है। जीव की यह स्थिति "प्राज्ञ" कहलाती है। इस समय जीव आनन्दमयकोश से युक्त रहता है। यह प्राज्ञ

सर्वज्ञ है तथा समस्त जीवों की उत्पत्ति तथा लय का स्थान होने के कारण यह सबका कारण भी है।

इस प्रकार तीन भेदों में विभक्त होने पर भी इन सबका साक्षी एवं दृष्टा इन भेदों से अस्पृश्य ब्रह्म एक ही है। जिस प्रकार किसी नदी में रहने वाला कोई बलवान मत्स्य उसके प्रवाह से विचलित न होकर उसके दोनों तटों पर आता-जाता रहता है, किन्तु उन तटों से पृथक् होने के कारण उनके गुण-दोषों से युक्त नहीं होता, उसी प्रकार स्वप्न और जागृत स्थानों में सञ्चार करने वाला (घूमने वाला) आत्मा एक असंग और शुद्ध है।[70]

जीव की तीनों अवस्थाओं वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ का साक्षी न अन्तःप्रज्ञ है, न ब्राह्यप्रज्ञ है और न प्रज्ञानघन है वरन् इसे "तुरीय" के नाम से जाना जाता है।[71] यह तुरीय सभी प्रकार के दुःखों की निवृत्ति करने वाला है। यह विश्व और तैजस के समान स्वप्न और निद्रा से युक्त नहीं होता अपितु इन दोनों ज्ञानों का क्षय हो जाने पर ही तुरीय पद की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार अन्धकार में रखे हुए घट का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अन्धकार की निवृत्तिमात्र प्रकाश ही आवश्यक है उसी प्रकार तुरीय का ज्ञान

70. बृहदारण्यक उपनिषद् (4/3/18,19)
71. नान्तः प्रज्ञ न बहिष्प्रज्ञं० (माण्डूक्य 1/7)

प्राप्त करने के लिए उसमें आरोपित अन्तःप्रज्ञादि का भी निषेध आवश्यक है। अतः ब्रह्म ही भिन्न-भिन्न रूपों वाला जीव बनकर संसार के सुख-दुःख का भोग करता है। अन्ततः विवेकज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश होने पर जीव ब्रह्म ही हो जाता है।[72]

बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में शङ्कर कहते हैं कि जिस प्रकार जल के अन्दर सूर्य और चन्द्रमा केवल प्रतिविम्बमात्र हैं, यथार्थ नहीं हैं अथवा जैसे सफेद स्फटिक में लाल रंग केवल लाल फूल का ही प्रतिविम्बमात्र है यथार्थ नहीं, क्योंकि जल को हटा लेने से केवल सूर्य और चन्द्रमा रह जाते हैं प्रतिविम्ब नहीं रहता और लाल फूल को हटा लेने से केवल श्वेतवर्ण स्फटिक रह जाता है, उसी प्रकार सब जीवात्मायें एक मात्र यथार्थ सत्ता के अविद्या के अन्दर पड़े हुए प्रतिविम्ब मात्र है यथार्थ कुछ नहीं। इस अविद्या का नाश होने पर प्रतिविम्बों का अस्तित्त्व भी नष्ट हो जाता है केवल यथार्थ सत्तामात्र रह जाती है। अतः अद्वितीय ब्रह्म भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में प्रतिविम्बित होकर भिन्न-भिन्न जीवात्माओं के रूप में प्रकट होता है।

आचार्य शङ्कर ने एक जीववाद की कल्पना की है। उनके

---

72. ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति (बृ.उ. 3/4/6)

अनुसार सारे संसार में एक ही जीव और एक ही शरीर है। सारे शरीर एक दूसरे शरीर से भिन्न नहीं हैं और उनमें सबमें एक ही जीव समानरूप से विद्यमान है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अविद्या एक है वैसे उस अविद्या की उपाधि से युक्त जीव एक नहीं है क्योंकि यदि सब आत्मायें एक जीव हैं तब पहली-पहली बार कोई एक आत्मा को मोक्ष होने पर सांसारिक जीवन की समाप्ति हो जानी चाहिए थी। अर्थात् एक जीव की मुक्ति से समस्त जीवों की मुक्ति नहीं हो जाती। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म अविद्या से उत्पन्न भिन्न-भिन्न अंत:करणों की उपाधि से प्रतिविम्बित अनेक जीवात्माओं में विभक्त हो जाता है।

शङ्कर ने उपदेशसाहस्री में कहा है कि जिस प्रकार जादूगर अपनी संकल्पशक्ति से नाना प्रकार की वस्तुयें उत्पन्न कर दर्शकों को भ्रम में डाल देता है ठीक उसी प्रकार ब्रह्म भी करता है। वह विक्षेप रूप से इन्द्रजाल फैलाकर जीवों को मोहित करता है परन्तु ज्ञान के द्वारा जब यह भ्रम दूर हो जाता है तब जीव अपने रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। अर्थात् जब मुक्त पुरुष ब्रह्म में लीन हो जाता है तब उसका नामरूप भी विलीन हो जाता है।[73]

73. भिद्येते तासां नामरूपे।
समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। (प्रश्नोपनिषद् 6/5)

अविद्या की उपाधि से मुक्त होने पर ब्रह्म जीव कहलाता है। अविद्या जीव को अपने वशीभूत करके उसे बन्धन में डाल देती है। माया ईश्वर के अधीन रहकर उसकी सेवा करती हुयी जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय का कार्य करती रहती है। इस प्रकार जीव में अविद्या की उपाधि और ईश्वर में माया की उपाधि रहती है। अविद्या की उपाधि से युक्त जीव परतन्त्र होता है किन्तु माया की उपाधि से युक्त ईश्वर स्वतन्त्र होता है।

शङ्कराचार्य ने जीव की उत्पत्ति को पारमार्थिक नहीं माना है। जिस प्रकार आकाश से घटाकाश, मठाकाश आदि उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार परमात्मा से सभी जीव उत्पन्न हुए हैं। जिस प्रकार घटादि के नाश से घटाकाशादि का नाश हो जाता है उसी प्रकार देहादि के नाश से जीवों का भी नाश हो जाता है क्योंकि वास्तव में जीव तो आत्मा से ही उत्पन्न होता है, देहादि उपाधि से युक्त होने के कारण उन्हें जीव कहा जाता है। जीव की उत्पत्ति ब्रह्म से ही होती है। शङ्कराचार्य के अनुसार सभी प्राणी ब्रह्म से ही उत्पन्न होते हैं इसलिए यह सब ब्रह्म ही हैं।[74] बृहदारण्यक श्रुति में कहा गया है कि ब्रह्म ही विभिन्न प्रकार के रूपों और समस्त कर्मों को धारण करता है।[75] जिस प्रकार सुवर्ण से कटक-कुण्डलादि

74. अपरोक्षानुभूति (49)
75. बृहदारण्यक उपनिषद् (3/4/5)

बनाये जाते हैं और जब तक वे कुण्डलादि के आकार में रहते है केवल तभी तक कुण्डलादि कहे जाते हैं परन्तु जब उन्हें पिघलाया जाता है तब वे सुवर्ण ही हो जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से उत्पन्न हुआ संसार जब तक जीव आदि के रूप में रहता है तब तक जीव आदि कहलाता है लेकिन ब्रह्मज्ञान से अज्ञान दूर हो जाने पर वह ब्रह्म ही हो जाता है।[76] अतः जैसे मनुष्य मिट्टी में घड़े का भ्रम करता है किन्तु भ्रम दूर हो जाने पर उसे सत्य का ज्ञान हो जाता है। उसी प्रकार जब तक आत्मा का ज्ञान नहीं होता तब तक जीव की ही प्रतीति होती है लेकिन ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर जीव नहीं दिखायी देता। वस्तुतः ब्रह्म में जीव शब्द का प्रयोग नाममात्र है, अज्ञान के कारण है, मिथ्या है। श्रुति भी कहती है कि जीव ब्रह्म ही है - "जीवो ब्रह्मैव नापरः"। जिस प्रकार मिट्टी में घड़ा, सुवर्ण में कुण्डल और सीपी में रजत नाममात्र को ही है उसी प्रकार परब्रह्म में जीव शब्द, नाममात्र ही है।[77]

इसी प्रकार ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य में भी शङ्कराचार्य ने कहा है कि जीव परमात्मा से अनन्य ही है, अविद्या के कारण उनमें जन्म-मरण आदि का आरोप होता है।[78]

76. ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति (बृ.उ. 3/2/4)
77. यथा मृदि घटोनाम कनके कुण्डलाभिधा। शुक्तौ हि रजतख्यातिर्जीवशब्दस्तथापरे। (अपरोक्षानुभूति - 60)
78. यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽनन्य एव तथाप्य विद्याकामकर्मकृतं तस्मिन्मर्त्यत्वमध्यारोपितं भयं चेत्यमृतत्वा भयत्वे नोपपद्येते। (ब्र.सू.शा.भा. 1/4/3)

उपदेशसाहस्री के शिष्यानुशासनप्रकरण में कहा गया है कि स्वयं नामरूप के धर्मों से विलक्षण ब्रह्म नामरूप को व्यक्त करता हुआ इस शरीर को रचकर स्वयं उसके धर्मों और संस्कारों से रहित, अविज्ञात होकर सबका ज्ञाता इन नाम और रूपों में प्रविष्ट हो गया। जिस प्रकार पक्षी अपना घोंसला बनाकर स्वयं उस घोंसले में प्रविष्ट होता है वैसे ही परमात्मा भी जीव में प्रविष्ट हो जाता है। श्रुतियाँ और स्मृतियाँ भी इसका समर्थन करती हैं।[79]

व्यवहारतः प्रत्येक जीवात्मा दूसरे जीवात्मा से उसी तरह भिन्न है जिस प्रकार जड़ प्रकृति का प्रत्येक अणु एक दूसरे से भिन्न होता है। किन्तु जैसे जड़ प्रकृति के प्रत्येक अणु की सत्ता केवल अभिन्न ब्रह्म से है उसी प्रकार प्रत्येक जीव का अस्तित्त्व केवल ब्रह्म के कारण ही है। मन, इन्द्रिय और शरीर आदि तो जीव की उपाधियाँ हैं। इन्हीं से सम्बन्धित होने पर जीव अपने को कर्त्ता, भोक्ता समझने लगता है। जिससे उसका वास्तविक रूप छिप जाता है। अर्थात् वास्तव में वह ब्रह्म का ही प्रतिरूप है लेकिन संसार में सुख-दुःखादि का अनुभव करते हुए वह ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होने लगता है। परमार्थतः जीव ब्रह्म से भिन्न वस्तु नहीं है। अगर

79. (अ) 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत' (तै.आ. 3/12/7)
(ब) 'स एव इह प्रविष्टः' (बृ.उ. 1/4/7)
(स) 'अशरीरं शरीरेषु' (सूतसंहिता 2/11/67)

जीव अपने को इन समस्त आवरणों से मुक्त कर ले तो जो कुछ बच जाता है वह शून्य नहीं होता, अभाव नहीं होता, अपितु ब्रह्म ही होता है जो कि शुद्ध, चैतन्य, सच्चिदानन्दस्वरूप है।

जिस प्रकार खिड़की के बहुरंगी शीशे से देखने पर आकाश बहुरंगी अवश्य दिखायी देता है लेकिन वास्तव में वह बहुरंगी नहीं हो जाता, प्रत्युत वह अपने स्वाभाविक अवस्था में ही रहता है। अर्थात् आकाश अपनी अनन्त नीलिमा बनाए रखता है, उसी प्रकार नामरूप की उपाधियों से ब्रह्म विकार को प्राप्त नहीं करता प्रत्युत् वह अपना नित्यशुद्धमुक्त स्वभाव बनाये रखता है।

आचार्य शङ्कर के अनुसार जीव परमात्मा का ही एक अंश है किन्तु उसका ज्ञान और ऐश्वर्य छिपा रहता है।[80] मुमुक्षु को विवेकज्ञान हो जाने पर यह छिपा हुआ ज्ञान और ऐश्वर्य पुनः उसी प्रकार आविर्भूत हो जाता है जैसे औषधि के प्रयोग से किसी अन्धे व्यक्ति को दृष्टि मिल जाती है। स्वभावतः सभी जीवों की ज्ञान और ऐश्वर्यशक्ति आविर्भूत नहीं होती। क्योंकि आत्मस्वरूप का ज्ञान न होने से बन्धन और स्वरूपज्ञान होने से मोक्ष होता है।[81]

80. जीवः परमात्मांश एव सन् तिरोहितज्ञानैश्वर्यो भवति (ब्र.सू.शा.भा. 1/1/11)
81. ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैक्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः।।
(श्वेताश्वरोपनिषद 1/11)

इससे सिद्ध होता है कि जीव और परमात्मा में अभेद ही है क्योंकि श्रुति में कहा गया है कि उस देवता ने ईक्षण करके उसमें प्रवेश किया।[82] इस प्रकार कर्म का त्याग करने वाला व्यक्ति ही उस देवता का साक्षात्कार कर सकता है। जो व्यक्ति आत्मा को अंहकारादि के कारण मैं, मेरा आदि समझता है वह संसार में रहता हुआ दुःख को ही प्राप्त करता है। इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति को अविद्या से आरोपित आत्माभिमान रूप अनात्मबुद्धि का त्याग कर देना चाहिए।

(घ) जगत् का भ्रान्तिरूप –

शङ्कराचार्य ने जगत् को मिथ्या कहा है – 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या'। जिस प्रकार कि सत् और असत् से विलक्षण होने के कारण माया अनिवर्चनीय है उसी प्रकार जगत् भी न ब्रह्म की तरह सर्वथा सत् है और न शशश्रृंग की तरह सर्वथा असत्। जगत् सर्वथा सत् इसलिए नहीं है क्योंकि उसका कभी न कभी बाध एवं नाश हो जाता है जबकि परमार्थ सत् (ब्रह्म) का कभी नाश नहीं होता।[83] इससे स्पष्ट है कि जगत् के परमार्थ सत् न होने के कारण ही शङ्कर ने इसे मिथ्या कहा है। प्रत्यक्ष दृश्यमान वस्तु को सर्वथा

---

82. सेयं देवतैक्षय........................अनेन जीवनात्मनाऽनुप्रविश्य (छान्दोग्य उप. 6/3/2)
83. सत्यत्वं बाधराहित्यम् (पञ्चदशी 3/29)

असत् भी नहीं कहा जा सकता तथा जगत् तो प्रत्यक्षत: दृश्यमान है, इसीलिए ब्रह्म में अध्यस्त जगत् को वेदान्त में व्यावहारिक कहा गया है।[84]

शङ्कराचार्य ने उपदेशसाहस्री में जगत् को कल्पना मात्र कहा है। उनके अनुसार जगत् का अस्तित्त्व उसी क्षण तक है जब तक कि हमें सत्य का ज्ञान नहीं हुआ रहता। ब्रह्म के स्वरूप का सही ज्ञान होते ही इस जगत् का लोप हो जाता है। सीपी के टुकड़े को देखकर मनुष्य उसे अनेक बार चाँदी का टुकड़ा मान लेता है और उसे उठाने के लिए भागता है। लेकिन जैसे ही उसे सत्यता का ज्ञान होता है कि यह चाँदी का टुकड़ा न होकर सीपी मात्र है वह उसे छोड़कर चला जाता है। वह फिर दुबारा इस भ्रम में नहीं पड़ता। इसी प्रकार मनुष्य विवेकज्ञान के पूर्व संसार को सत्यमानकर उसमें लिप्त रहता है लेकिन जैसे ही उसे ब्रह्म का ज्ञान होता है वह फिर कभी जन्ममरण के चक्कर में नहीं फँसता। माध्यमिक सूत्र में नागार्जुन कहते हैं कि जगत् स्वप्न आदि के समान है, जो स्वयं अपना कोई सत् स्वरूप न होते हुए भी सत् की वस्तुगत प्रतीति को प्रस्तुत करता है।[85]

---

84. सत्यानृते मिथुनीकृत्याहमिंद ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहार: (ब्र.सू.भा.भा. 1/1/1)
85. माध्यमिक सूत्र (23/8)

प्रत्यक्ष अनुभव होने वाले जगत् को मिथ्या कहना अद्वैत वेदान्त की एक अद्‌भुत पहेली है। शङ्कराचार्य के द्वारा किए गए जगत् के मिथ्यात्व की एक मुख्य विशेषता यह है कि इसके द्वारा जगत् का लौकिक व्यवहार और परमार्थगत ब्रह्म की अनुभूति इन दोनों का ही समर्थन प्राप्त होता है। पश्चिमी विद्वान वर्कले ने भी जगत् की व्यावहारिक सत्ता का समर्थन किया है।[86] वस्तुतः जगत् की सत्ता इसलिए असत् कही जाती है कि त्रिकाल में उसका अभाव रहता है। जिस प्रकार जाग्रत अवस्था से पूर्व स्वप्नावस्था के समस्त व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं उसी प्रकार ब्रह्म का ज्ञान होने के पहले तक जगत् के पदार्थों को अद्वैत वेदान्त में उत्पत्तिविनाशशील कहा गया है।[87] शङ्कर ने कहा है कि निर्विशेष ब्रह्म जब माया के द्वारा आवृत्त होकर सगुणभाव को धारण करता है तो वही ईश्वर कहलाता है। ईश्वर ही विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय का कारण है। इस प्रकार ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। वस्तुतः जगत् की सृष्टि में माया ही प्रधान कारण है।

जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में शङ्कर कहते हैं कि तमः प्रधान विक्षेप शक्ति से युक्त ईश्वर से सूक्ष्म तन्मात्र रूप आकाश

---

86. Principles of Human knowledge (p.34)
87. ब्रह्मसूत्र (2/2/26)

की उत्पत्ति हुई, आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार इन सूक्ष्मभूतों से सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति होती है। ये सूक्ष्म शरीर सत्रह पदार्थों से मिलकर बना है - पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा मन एवं बुद्धि। इस प्रकार इस सूक्ष्म शरीर से ही स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है। स्थूल शरीर पञ्चीकृत भूतों से बना है। पञ्चीकरण का तात्पर्य है - पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश इन पाँच स्थूलभूतों का मिश्रण। फलतः प्रत्येक स्थूलभूत में अपना अंश तो आधा होता है और आधे में अन्य चारों भूतों के अष्टम् अंश सम्मिलित रहते हैं। जैसे पृथ्वी नामक भूत में पृथ्वी का अपना आधा अंश और आधे अंश में जल, तेज, वायु तथा आकाश में प्रत्येक का आठवाँ भाग मिला रहता है। ऐसा ही जल, तेज, वायु, आकाश सभी अन्य भूतों के साथ होता है। इस प्रकार शङ्कराचार्य ने स्थूलभूत को पञ्चभूतात्मक कहा है। इसके विपरीत सूक्ष्मभूत या तन्मात्र अपञ्चीकृत होते हैं अर्थात् वे अपनी विशुद्ध दशा में विद्यमान रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि ब्रह्म का प्रथम रूप निर्गुण है तथा द्वितीय रूप सगुण है। माया की उपाधि से विशिष्ट होने से ब्रह्म ईश्वर कहलाता है और अविद्या की उपाधि से युक्त होने पर वही ब्रह्म

जीव कहलाता है। अर्थात् ब्रह्म ही एक मात्र ऐसा तत्त्व है जो त्रिकाल में भी बाधित नहीं होता। जगत् उसमे अध्यस्त होने से अपनी सत्ता धारण करता है, उसकी अपनी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। जगत् ब्रह्म का ही विवर्त है। जगत् के समस्त क्रिया-कलाप व व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं[88] और परमार्थत: तो जगत् के सारे व्यवहार लुप्त हो जाते हैं।[89] इसके अतिरिक्त सृष्टि के पहले भी एक मात्र सत्य ब्रह्म की ही सत्ता थी। इससे सिद्ध होता है कि जगत् की सत्ता तीनों कालों में विद्यमान नहीं रहती इसलिए जगत् को असत् कहा जाता है। इसके विपरीत ब्रह्म की सत्ता तीनों कालों में विद्यमान रहती है इसलिए ब्रह्म सत्य कहलाता है।

व्यवहारत: जगत् सत् है क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से दिखायी पड़ने वाले जगत् को शशश्रृंग या आकाशकुसुम के समान असत् नहीं कहा जा सकता। शशश्रृंग या आकाशकुसुम तो कभी किसी के द्वारा देखा नहीं गया है जबकि ब्रह्म का ज्ञान होने से पहले जगत् के सारे क्रिया-कलाप करते हुए सभी उसका प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि नामरूपात्मक जगत् न पूर्णतया सत् है और न पूर्णतया असत् है। अत: यह कहा जा सकता है जगत् (व्यवहारत:)

88. सर्वव्यवहाराणामेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपते:
स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक् प्रबोधात्। (ब्र.सू.शा.भा. 2/1/14)

89. एवं परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ता: सर्वे। (ब्र.सू.शा.भा. 2/1/14)

एक दृष्टि से तो सत् है किन्तु (परमार्थत:) दूसरी दृष्टि से असत् है। एवञ्च जगत् की सत्ता न पूरी तरह असत् है और न सत्। इसीलिए सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण ही शङ्कराचार्य ने जगत् को अनिवर्चनीय कहा है। शङ्कराचार्य ने जगत् की अभावरूपता का भी निरूपण किया है। परमार्थतः जगत् के असत् सिद्ध होने पर भी यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि ब्रह्मबोध के बाद जगत् का लोप हो जाता है। क्योंकि यदि ब्रह्म का ज्ञान होने के बाद जगत् का लोप हो जाये तो एक मनुष्य के जीवन्मुक्त होने पर जगत् की सत्ता ही समाप्त हो जाती[90] और वह मनुष्य जगत् में रहकर अपने प्रारब्ध कर्मों का भोग कर पाने में असमर्थ हो जाता, जबकि ऐसा नहीं होता। जीवन्मुक्त अपने प्रारब्ध कर्मों का भोग करने के पश्चात् ही मोक्ष को प्राप्त करता है। इस प्रकार ब्रह्मवेत्ता जीवन्मुक्त व्यक्ति के लिए जगत् का लोप न होकर नामरूपात्मक सारे प्रपञ्च और उससे उत्पन्न होने वाले समस्त व्यवहार का ही लोप होता है, प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् का नहीं। इस प्रकार शाङ्कर वेदान्त में जगत् के असत् होने का यही तात्पर्य है कि जगत् की सत्ता ब्रह्म से पृथक् नहीं है।[91] तत्त्ववेत्ता जीवन्मुक्त व्यक्ति के लिए संसार के समस्त कर्म एवं उनके फलरूप सारे व्यवहार नष्ट हो जाते हैं।[92] जीवन्मुक्त प्राणी तो इस

90. ब्र.सू.शा.भा. (3/2/21)

लोक में जडवत् घूमता रहता है, और प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त होने के बाद ही वह विदेहमुक्ति को प्राप्त करता है।

वस्तुतः यह सारा संसार मिथ्या है। काल की दृष्टि से यह संसार असत् है क्योंकि इसका अस्तित्त्व शाश्वत नहीं है। संसार का स्वरूप तभी तक दिखायी देता है जब तक सत्य का ज्ञान नहीं रहता। सत्य ज्ञान के बाद यह तुच्छ लगने लगता है, क्योंकि फिर उसका कोई अस्तित्त्व ही नहीं रहता। इसके साथ ही यह जगत् सत् भी है क्योंकि जब तक मिथ्याज्ञान का अस्तित्त्व है, तब तक यह संसार वास्तविक प्रतीत होता है। वस्तुतः इसकी सत्ता सभी कालों में सत्य नहीं है एवं यह शाश्वत सत्ता नहीं है, इसीलिए जगत् को असत् कहा जाता है और यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि प्रत्येक असत्य का लोप अवश्य हो जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि संसार न कभी था, न है और न आगे रहेगा। मिथ्या दृष्टि से जो सत्य प्रतीत होता है सत्य दृष्टि से वह अवश्य ही भ्रान्तिरूप में दिखायी पड़ता है। जैसे शुक्ति में रजत का आभास होता है तो हम रजत की सत्ता को सत्य मानकर उसे उठाने के लिए भागते हैं किन्तु जैसे ही हमें सत्य का ज्ञान होता है तुरन्त ही हम यह समझ जाते हैं कि यह शुक्ति, रजत का टुकड़ा न कभी था, न है और न रहेगा। ठीक उसी प्रकार अज्ञान के

कारण हम संसार को सत्य समझ रहे थे और ब्रह्मज्ञान के बाद उसी संसार की निस्सारता का अनुभव होने लगता है और स्पष्ट हो जाता है कि संसार मिथ्या है। अतः हमारा पूर्वज्ञान (संसार को सत्य समझना) भी मिथ्या था। केवल ब्रह्म ही सत्य है क्योंकि ब्रह्म ही सभी काल एवं स्थितियों से अप्रभावित रहता है और किसी भी काल में किसी भी प्रमाण से असत्य नहीं सिद्ध होता है। इस प्रकार ब्रह्म ही जगत् में एक शाश्वत सत्य है तथा वही अद्वैत रूप में स्थित है। सत्य तो स्वयं अपनी सत्ता से स्थित रहता है, मिथ्या को मिथ्या प्रमाणित कर देने मात्र से हम किसी को सत्य नहीं कह सकते। अतः माया के मिथ्यात्त्व से ब्रह्म को सत्य प्रमाणित नहीं किया जाना चाहिए। ब्रह्म तो स्वयं प्रकाश है उसका स्वयं ही बोध होता है। ब्रह्म की सत्ता के लिए किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं होती। ब्रह्म को इन्द्रियों के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता, क्योंकि उसका कोई रूपादि भी नहीं है।[93] इससे सिद्ध होता है कि एक ब्रह्म ही सत्य है जगत् मिथ्या है।

अतः जिस प्रकार आकाश में नीलापन मालूम होता है जबकि वहाँ कुछ नहीं होता, मरुभूमि में जल प्रतीत होता है जबकि वहाँ जल नहीं होता और जैसे अन्धकार में ठूँठ, पुरुष के समान दिखायी

---

93. वाचारम्भणं विकारो नामधेयं (छा.उ. 6/1/4)

पड़ता है जबकि वह पुरुष नहीं है उसी प्रकार ब्रह्म में यह संसार प्रतीत होता है जबकि यह ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इससे स्पष्ट है कि जगत् सत्य-सा प्रतीत होता है जो वस्तुतः सत्य नहीं है।

शङ्कराचार्य के अनुसार जगत् ब्रह्म से न तो सर्वथा भिन्न है और न ब्रह्मरूप ही है, यह तो अनिवर्चनीय है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयादि भी यथार्थ नहीं है। वास्तव में परमार्थ सत्य तो अद्वैत ब्रह्म ही है। इस प्रकार जगत् माया है, परन्तु जगत् मायिक होने पर भी शशश्रृंग के समान पूर्णतया असत् नहीं है इसीलिए शङ्कर ने जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार की है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि जगत् उत्पत्ति के पूर्व अव्याकृत था फिर यह नामरूप के द्वारा व्यक्त हुआ। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि सत् रूप परमात्मा से जगत् की उत्पत्ति हुयी है। क्योंकि आरम्भ में सत् तत्त्व ही था, उसी आदि तत्त्व ने अनेक रूपों में उत्पन्न होने की इच्छा करके जल की रचना की और फिर इसी जल ने अन्न को उत्पन्न किया तत्पश्चात् उस सर्वोच्च सत्ता ने तेज, जल और अन्न में जीवात्मा के साथ प्रवेश किया तथा नाम और रूप को व्याकृत किया।[94]

94. छान्दोग्य उपनिषद् (6/2/2 एवं 6/3/2)

इस प्रकार शङ्कराचार्य ने कारण रूप ब्रह्म और कार्यरूप जगत् के बीच अभेद की स्थापना की है।[95] उनके अनुसार मायावी परमेश्वर जगत् का सृष्टा है, क्योंकि एक ही परमेश्वर जो कूटस्थ नित्य एवं विज्ञान स्वरूप है, माया के द्वारा अनेक प्रकार का प्रतीत होता है।[96] जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक अपने इन्द्रजाल के द्वारा अनेक प्रकार के अवास्तविक विषयों की रचना करता है उसी प्रकार परमेश्वर भी जगत् की रचना करता है। जैसे ऐन्द्रजालिक अपने इन्द्रजाल से प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार मायावी परमेश्वर भी जगत् के समस्त पाप-पुण्यादि कृत्यों से अस्पृष्ट ही रहता है।[97] अतः जगत् की व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत केवल ब्रह्म ही सत्य है और ब्रह्म में आरोपित जगत् की समस्त सत्ता मिथ्या है।

(ङ) बन्धनों से मुक्ति –

वेदान्त दर्शन का मोक्ष आनन्दरूप है वह न्यायदर्शन की तरह शुष्क नहीं है। शङ्कराचार्य ने मोक्ष को पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाश के समान सर्वव्यापी सभी क्रिया-कलापों से रहित, नित्यतृप्त, निरवयव, स्वयं ज्योति स्वभाव कहा है।[98] वस्तुतः आत्मा सदैव विकार

95. कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत्, कारणं परं ब्रह्म तस्मात् कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते। (ब्र.सू.शा.भा. 2/1/14)
96. ब्र.सू.शा.भा. (1/3/19)
97. गीता शाङ्करभाष्य (5/14,15)
98. इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थं नित्यं व्योमवत् सर्वव्यापि सर्वविक्रिया रहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयंज्योतिस्वभावम् (ब्र.सू.शा.शा. 1/1/4)

रहित होने के कारण बन्धन एवं मोक्ष से परे रहता है। लेकिन अज्ञान के कारण जीव कोटि में आने पर जगत् से सम्बन्धित होकर ममत्व और परत्व आदि अनेकानेक बन्धन उत्पन्न हो जाते हैं। जिससे जीव इन्हीं बन्धनों में फँसा रहता है और आत्मबोध करने में असमर्थ रहता है। वस्तुतः जीव का इस बन्धनयुक्त जगत् से कोई सम्वन्ध नहीं होता फिर भी आत्मज्ञान न होने के कारण अविद्या के वशीभूत होकर वह जगत् से अपना मिथ्या सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। यह मिथ्या सम्बन्ध ही मिथ्या बन्धन का मूल है। जब बन्धन का मूल कारण अविद्या की निवृत्ति हो जाती है, तभी जीव मुक्त कहलाता है। इस प्रकार मोक्ष की व्यवस्था पारमार्थिक न होकर मायापूर्ण ही है।[99] वास्तव में समग्र जीव और सम्पूर्ण जगत् केवल ब्रह्म ही है। इस अद्वितीय ब्रह्म में निरन्तर अखण्डरूप से स्थित रहना मोक्ष है।[100]

शङ्कराचार्य के अनुसार मोक्ष की स्थिति में धर्म और अधर्म अपने कार्य सुख-दुःख के साथ तीनों कालों में भी सम्बन्ध नहीं रखते, इसी शरीररहित स्थिति को शङ्कराचार्य ने मोक्ष कहा है।[101]

99. मानसोल्लास (2/56 अड्यार मद्रास)

100. वेदान्त सिद्धान्तं निरुक्तिरेषा, ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च
अखण्डरूपस्थितिरेव मोक्षो ब्रह्माद्वितीयेश्रुतयः प्रमाणम् (विवेकचूड़ामणि श्लोक सं 479)

101. यत्र धर्माधर्मो सहकार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते
तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम् (ब्र.सू.शा.भा. 1/1/4)

शरीर से ही क्रिया का सम्बन्ध होता है, उसी से सुख-दुःख की प्राप्ति होती है यह सुख-दुःख कभी भी अशरीर के न देखे गये हैं और न सुने गये हैं।[102] अर्थात् मोक्ष कभी भी क्रिया द्वारा साध्य नहीं होता है। श्रुतियों में भी कहा गया है - 'न कर्मसाध्या मुक्तिः ज्ञानादेव तु सेति'।[103] वेदान्त में अविद्या निवृत्ति का फल ही मोक्ष कहा गया है।

वस्तुतः वेदान्तियों का मोक्ष कुछ इस प्रकार का है जैसे किसी मनुष्य के गले में सोने का हार था परन्तु वह उसे भूलकर इधर-उधर ढूढ़ता रहता है। किसी व्यक्ति ने उसे बताया कि हार उसी के गले में लटक रहा है। उसी प्रकार जीव तो स्वभावतः शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला है, क्योंकि मोक्ष तो स्वभावसिद्ध है वह न तो प्राप्य है और न उत्पाद्य, अतः उसकी प्राप्ति और उत्पादन के लिए किसी प्रकार का कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। विवेकज्ञान होते ही मुमुक्षु तुरन्त ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, दुःख का पूर्णतः नाश हो जाता है और सर्वत्र आनन्द ही दिखायी पड़ता है। इस प्रकार वेदान्त में मुक्ति की दशा आनन्दमयी है।

शङ्कर के अनुसार मोक्ष कोई नई अवस्था नहीं है जिसे प्राप्त

---

102. अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः (छा.उ. 8/12/1)
103. बृ.उ. (2/1/15)

करना है वरन् वह आत्मा का स्वरूप ही है। अतः मोक्ष को प्राप्त करने का तात्पर्य जीव के उस वास्तविक स्वरूप को समझना है जो उसका स्वाभाविक रूप है और उसमें सदैव विद्यमान रहता है लेकिन अज्ञानवश वह कुछ समय के लिए उसे भूल गया है। वेदान्त का मोक्ष ठीक उसी प्रकार है जैसे एक राजकुमार जिसका पालन-पोषण बचपन से ही एक शिकारी के घर में होता है और बड़ा होने पर उसे इस बात का पता चलता है कि वह एक राजकुमार है।[104] यह बात जान लेने के बाद उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता क्योंकि वह पहले से ही एक राजकुमार था अब उसे यह बात ज्ञात हो गयी कि वह एक राजकुमार है। उसी प्रकार अद्वैत वेदान्त के मोक्ष में भी केवल अविद्या को दूर भगाने की ही आवश्यकता है जो कि आत्मा के वास्तविक स्वरूप पर पर्दा डाले रहती है जिसके कारण हम संसार के जन्म-मरण के चक्र में फँसे रहते है, और अपने ही स्वरूप से अनभिज्ञ रहते हैं। यह अज्ञान विपरीत ज्ञान से दूर होता है। अर्थात् जब मुमुक्षु को यह बात ज्ञात हो जाती है कि यह आत्मा ही ब्रह्म है[105] तब वह स्वयं ही अज्ञान को दूर कर देता है और अज्ञान के दूर होते ही आत्मा का अपने स्वाभाविक प्रकाश के साथ प्रकट होना ही मोक्ष होता है।

---

104. बृहदारण्यक उपनिषद् (शाङ्करभाष्य 2.1.20)
105. अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्योपनिषद् 1/2)

शङ्कर तैत्तिरीय उपनिषद् के भाष्य में कहते हैं कि मोक्ष नित्य है। अनित्य वह वस्तु होती है जो किसी कारण का कार्य हो और मोक्ष किसी कारण का कार्य नहीं हो सकता। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य में कहा गया है कि जिनके मत में मोक्ष उत्पाद्य, विकार्य, प्राप्य या संस्कार्य है उनके मत को माने तो मोक्ष में अनित्यता आना संभव है परन्तु ऐसा नहीं है अतः मोक्ष अनित्य नहीं है। मोक्ष तो वस्तुतः अतिशय से रहित ब्रह्मस्वरूप है। बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में शङ्कर कहते हैं कि यदि मोक्ष को किसी भावनान्तर की प्राप्ति माना जाता तो एक ओर उपनिषद् के आत्मैक्य रूप सिद्धान्त की हानि होती, तथा वह कर्म निमित्तक हो जाता और तब उसमें अनित्यता का दोष आ जाता क्योंकि जो वस्तु कर्म से निष्पन्न होती है वह नित्य नहीं होती। मोक्ष की नित्यता का कारण ब्रह्मरूप जीव का स्वरूप नित्य, शुद्ध, ज्ञानमात्र होना है जो समस्त उपायों से परे है। इस प्रकार मोक्ष या आत्मज्ञान यदि किसी कर्म के द्वारा प्राप्य या संस्कार्य होता तो उसमें निश्चय ही अनित्यता रूप दोष आने की संभावना थी, परन्तु स्वात्मज्ञान रूप मोक्ष प्राप्य या संस्कार्य नहीं है इसलिए वह नित्य है।

शङ्कराचार्य ने मोक्ष को अज्ञान या अविद्या की निवृत्ति कहा है। बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य में वे मोक्ष और अविद्या की निवृत्ति

को पर्याय कहते प्रतीत होते हैं। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य में वे कहते हैं कि रोगनिवृत्ति ही जैसे स्वस्थ होना है उसी प्रकार अज्ञान का नाश ही ज्ञान है।[106] इस प्रकार अविद्या को आत्मा का अविच्छिन्न धर्म नहीं माना गया है क्योंकि मुक्ति के समय इसकी निवृत्ति हो जाती है।[107] ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य में आचार्य शङ्कर यह भी बताते हैं कि ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्त मोक्ष का साधनभूत ब्रह्मज्ञान अविद्या का निवर्तक होकर दृष्टमय रूप से अभीष्ट है अतः विद्या द्वारा अविद्या की निवृत्ति करके जीव परम अनन्त प्राज्ञ आत्मा के साथ एकता को प्राप्त होता है।

उपदेशसाहस्री के ईक्षितृत्वप्रकरण में शङ्कराचार्य ने कहा है कि मोक्ष की प्राप्ति कर्म से नहीं होती वरन् मात्र ज्ञान से ही होती है क्योंकि देहाभिमान से कर्म होता है और कर्म अज्ञान मूलक है इसलिए अज्ञानरूप कर्म से मोक्ष प्राप्ति की आशा रखना व्यर्थ है। ज्ञान और अज्ञान का विवेक न होने पर ही कर्म की ओर प्रवृत्ति होती है। अतः 'अज्ञान निवृत्ति रूप मोक्ष' ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य कर्म आदि की अपेक्षा नहीं रखता। इस प्रकार मोक्ष का कारण एक मात्र ज्ञान ही है।[108] श्रुति भी कहती है कि अज्ञान

---

106. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य (4/4/2)
107. नात्मधर्मोऽविद्या (बृ.उ.भा.वा.12)
108. न ततोऽमृतताऽऽशास्ति कर्मणोऽज्ञानहेतुतः।
मोक्षस्य ज्ञानहेतुत्वान्न तदन्यदपेक्षते।। (उ.सा. 11/15)

का नाश होने पर कैवल्य की प्राप्ति होती है फिर इसके बाद मुमुक्षु अज्ञान में नहीं फँसता।[109] बीज के न रहने पर फल भी नहीं होता - 'बीजाभावे फलाभावः' इस सामान्य नियम के अनुसार जब अविद्या ही नहीं रहेगी तो जन्मादि विकार भी नहीं होंगे। अर्थात् आत्मतत्त्व का ज्ञान होने पर ही अज्ञान की निवृत्ति होती है जिससे संसार से भी छुटकारा मिल जाता है[110] और फिर मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पड़ता। मुण्डकोपनिषद् में भी कहा गया है -

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टेपरावरे।।[111]

उपदेशसाहस्री के पार्थिवप्रकरण में कहा गया है कि ज्ञान से अज्ञान का नाश होता है जिसके फलस्वरूप अज्ञान कार्य रूप वन्धन की निवृत्ति होती है, यही मोक्ष है।[112] तत्त्वमसिप्रकरण में शङ्कराचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार रज्जु पर आरोपित हुई सर्पबुद्धि निवृत्त हो जाती है उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस श्रुति वाक्य से 'अहं' पद से लक्ष्य आत्मा और उसके अहंकारादि अनात्मा धर्मों का निषेध

---

109. स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते।। (कठ.उ. 3/8)
110. तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः (ई.उ.7)
111. मुण्डकोपनिषद् (2/2/8)
112. मोक्षस्तन्नाश एव स्यान्नान्यथाऽनुपपत्तितः।
     येषां वस्त्वन्तरापत्तिर्मोक्षो नाशस्तु तैर्मतः।। (उ.सा. 16/62)

हो जाता है। अतः नित्य अपरोक्ष आत्मा ही ब्रह्म है यह सिद्ध है। जिस प्रकार शास्त्र प्रमाण से धर्मादि के अस्तित्त्व का ज्ञान होता है अथवा गारुड़ादि मन्त्रबीज के स्मरण से सद्यः विष निवृत्ति होती है, उसी प्रकार वेदान्तज्ञान से उत्पन्न हुए तत्त्वज्ञान से अज्ञानरूप पाप का विनाश हो जाता है। 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य'[113] आदि श्रुतियाँ भी इसका समर्थन करती हैं।

उपदेशसाहस्री के शिष्यानुशासनप्रकरण में शङ्कराचार्य कहते हैं कि आत्मज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति में हेतु है अर्थात् जीव एवं ब्रह्म में अभेद ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। अनेक श्रुतियाँ भी इसका समर्थन करती हैं - 'वह आत्मा है और वही तू है'[114] तथा 'उसने आत्मा को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ'।[115] इस प्रकार श्रुति, स्मृति और युक्ति से अविद्या का समूल नाश हो जाने पर मुमुक्षु को समस्त बन्धनों से छुटकारा मिल जाता है तत्पश्चात् उस अशरीरी आत्मा को प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते।[116] जैसे रोग की निवृत्ति हो जाने पर आरोग्य होकर जीव पहले की तरह स्वस्थ हो जाता है उसी प्रकार मोक्ष की प्राप्ति

---

113. (छा.उ. 6/3/2)
114. स आत्मा तत्त्वमसि (छा.उ. 6/8/16)
115. तदात्मानमेवावेत् अहं ब्रह्मास्मीति (बृ.उ. 1/4/10)
116. अशरीरंवाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः (छा.उ. 8/12/1)

हो जाने पर मुमुक्षु भी अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त करता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता।

मोक्ष दो प्रकार के होते हैं -

(1) जीवन्मुक्ति

(2) विदेहमुक्ति

(1) जीवन्मुक्ति -

जीवन्मुक्ति का अर्थ होता है जीते हुए भी मुक्त होना। अर्थात् शरीर धारण करते हुए जो मुक्ति मिलती है वह जीवन्मुक्ति कहलाती है। जीवन्मुक्त पुरुष आनन्दस्वरूप ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु को नहीं देखता इसीलिए उसका व्यवहार जडवत् होता है।[117] अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष चक्षु रहते हुए भी अचक्षु के समान और कर्ण होते हुए भी अकर्ण के समान होता है।[118] इसीलिए जगत् के समस्त विषयों में ज्ञानी की अनासक्ति देखी जाती है।

उपदेशसाहस्री के दृशिस्वरूपपरमार्थदर्शनप्रकरण में शङ्कराचार्य ने

---

117. नापृष्टः कस्यचित् ब्रूयात् न चाऽन्येनपृच्छतः
जानन्नयिहि मेधावी जडवल्लोकं आचरेत्। (वे.सि.मु.पृ. 225 से उद्धृत)

118. स चक्षुरचक्षुरिव सकर्णो अकर्णइव (वेदान्तसार 35 से उद्धृत)

जीवन्मुक्त पुरुष के बारे में कहा है कि जो जागृत अवस्था में भी सुषुप्त्यावस्था का अनुभव करते हुए द्वैत को नहीं देखता और यदि इस द्वैतात्मक जगत् को देखता है तो उसे अद्वैत रूप ही समझता है, तथा कर्मों को करते हुए भी जो निष्क्रिय है वही आत्मवेत्ता मुक्त पुरुष है।[119]

वस्तुतः अज्ञान का बोध हो जाने पर जब जीव को अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तब उस ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को जीवन्मुक्त कहते हैं। इस स्थिति में जीव के अज्ञान से उत्पन्न होने वाले सञ्चित एवं सञ्चीयमान कर्मों का विनाश तो हो जाता है लेकिन आत्मसाक्षात्कार होने पर भी जीव के प्रारब्ध कर्मों का भोग पूरा न होने के कारण जीव शरीर धारण किए रहता है। इस प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष प्रारब्धकर्मों का भोग करते हुए उन्हें परमार्थ बुद्धि से नहीं भोगता। जैसे कोई जादूगर अपने इन्द्रजाल को देखते हुए भी उसे वास्तविक नहीं समझता, उसी प्रकार जीवन्मुक्त भी कर्मफल भोग को वास्तविक नहीं समझता। जीवन्मुक्त शुभ एवं अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों के प्रति उदासीन रहता है। गीता में भी कहा गया है कि ज्ञानी पुरुष में अभिमान

---

119. सुषुप्तवज्जागृति यो न पश्यति द्वयं तु पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा चकुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः (उपदेशसाहस्री 10/13)

का अभाव, अहिंसा, क्षमा, आर्जव एवं गुरुसेवा आदि भाव देखे जाते हैं।[120]

इस प्रकार जीवन्मुक्त प्राणी के लिए अविद्या की निवृत्ति एवं ब्रह्म बोध होने पर कर्मादि का बन्धन समाप्त हो जाता है। परन्तु जिस प्रकार छोड़े हुए बाण की निवृत्ति वेग का क्षय होने पर होती है उसी प्रकार जिस कर्म का फल शुरू हो चुका है उसकी निवृत्ति शरीरपात होने पर ही होती है। अतः जब तक प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता तब तक मुक्त पुरुष को भी जीवन धारण किए रहना पड़ता है। शङ्कराचार्य ने जीवन्मुक्त की स्थिति को कुम्भकार के चक्र के समान कहा है। जिस प्रकार एक बार चलाया गया कुम्भकार का चक्र तब तक नहीं रुकता, जब तक कि उसका वेग समाप्त नहीं हो जाता उसी प्रकार मुक्त पुरुष को भी प्रवृत्तफलवाले कर्मों के भोग के लिए शरीर धारण

120. अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।।
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि।।
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।। (श्रीमद्भगवद्गीता 13/7-11)

करना पड़ता है।[121] अत: जीवन्मुक्त पुरुष शरीर, इन्द्रिय और अन्त:करण के द्वारा क्रियमाण कर्मों को भोगता हुआ, प्रारब्ध कर्म फलों को देखता हुआ भी नहीं देखता है। क्योंकि अज्ञान का नाश होने के कारण जीवन्मुक्त पुरुष कर्तृत्व, भोक्तृत्व के अभिमान से रहित हो जाता है। उपदेशसाहस्री के प्रकाशप्रकरण में कहा गया है कि जो व्यक्ति ब्रह्मज्ञता के अभिमान का त्यागकर देता है वही आत्मज्ञ बन सकता है कोई अन्य नहीं।[122] इस प्रकार जीवन्मुक्त के प्रारब्धकर्मों का भोग समाप्त हो जाने पर उसका देह नष्ट हो जाता है और वह विदेह कैवल्य को प्राप्त करता है।

(2) **विदेहमुक्ति** -

शरीर त्याग के बाद होने वाली मुक्ति 'विदेहमुक्ति' कहलाती है। वस्तुत: आत्मा सच्चिदानन्द रूप है फलत: जीव के आत्मरूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर जीव भी सच्चिदानन्दरूप हो जाता है। इस प्रकार जब तत्त्वज्ञानी के प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त हो जाता है तो वह शरीर त्याग होने पर विदेहमुक्तावस्था को प्राप्त होता है। इस स्थिति के प्राप्त होने पर जीव का जन्म-मरण का

---

121. तस्य तावदेवं चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथसम्पत्स्ये (छा.उ. 6/14/2)
122. यो वेदालुप्तदृष्टित्वमात्मनोऽकर्तृतां यथा।
ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतर:।। (उपदेशसाहस्री 12/13)

बन्धन समाप्त हो जाता है इस प्रकार जीवन्मुक्त केवल शरीर यात्रा के प्रयोजन से ही सुख-दुःख रूप प्रारब्ध फलों को अनिच्छा से भोगता रहता है और जब इन प्रारब्ध कर्मों का नाश हो जाता है तब वह परब्रह्म में लीन हो जाता है। बृहदारण्यक श्रुति में भी कहा गया है कि ब्रह्मवेत्ता के प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं।[123] अतः अविद्या और उसके कामकर्मादि के बन्धनों से विमुक्त हुआ यह जीवन्मुक्त, विदेहमुक्त हो जाता है अर्थात् वह फिर शरीर नहीं धारण करता है।[124] ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य में भी कहा गया है -

इहैवाविद्याकृतकामकर्मबन्धनैर्विमुक्तो भवति।

विमुक्तश्च सन् विमुच्यते पुनः शरीरं न ग्रहणातीत्यर्थः।

वस्तुतः आत्मा तत्त्वज्ञान के पहले भी मुक्त था केवल अज्ञान के कारण होने वाला अविवेक ही संसारभ्रान्ति का कारण बनता है तथा संसारभ्रान्ति का विलोपन हो जाने पर आत्मा विमुक्त हो जाता है।[125]

शङ्कराचार्य पूर्ण मोक्ष में शरीर और इन्द्रियों का अभाव मानते है।[126]

---

123. न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति (बृ.उ. 4/4/6)
124. तस्माद् ब्रह्मात्मविज्ञानं दृढं चरम विग्रहे।
जायते मुक्त्तिदं ज्ञानं प्रसादादेव मुच्यते (सूतसंहिता 3/7/18)
125. न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।। (माण्डूक्य - 2/32)
126. ब्र.सू.शा.भा. (4/4/5)

जीवन्मुक्त देहपात के बाद ब्रह्मैक्यरूप जिस मोक्ष की अनुभूति करता है, वह अशरीरी नामक मोक्ष है। दूसरे शब्दों में इसे ही विदेह मुक्ति कहा जाता है। सदानन्द इसी को आनन्दैकरस से पूर्ण तथा समस्त भेदों से रहित, पूर्ण कैवल्य मानते हैं।

इस प्रकार आत्मज्ञानी मुक्त पुरुष वर्तमान शरीर को त्यागकर दूसरे लोक को नहीं प्राप्त करता अपितु अपने प्रारब्ध कर्मों के क्षय पर्यन्त सुख-दुःख को भोगकर अन्त में विदेह कैवल्य को प्राप्त करता है।[127] जीवन्मुक्ति में प्रारब्ध कर्म का भोग समाप्त होने के कारण जीवन्मुक्त प्राणी को शरीर धारण करना पड़ता है। जबकि विदेहमुक्ति में प्राणी कर्म भोग समाप्त करके शरीर बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति में यही प्रधान भेद है। ब्रह्मवेत्ता मुक्त पुरुष जब स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है, और उसे अद्वैत सत्य ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ की सत्ता ही नहीं दिखायी देती तो फिर किसी अन्य लोक में गमन का प्रश्न ही नहीं उठता। अर्थात् वह तुरन्त ही विदेह मुक्ति को प्राप्त करता है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि आचार्य शङ्कर ने सब प्रकार

---

127. वेदान्तपरिभाषा (परिच्छेद 8)

के बन्धनों की निवृत्ति को ही ब्रह्म प्राप्ति का साधन बताया है। बन्धनों की निवृत्ति का अर्थ केवल शरीर त्याग करने से नहीं है बल्कि इसका तात्पर्य अविद्या की निवृत्ति से है जिसके कारण व्यक्ति आवरणों से मुक्त हो जाता है और ब्रह्म की अनुभूति से आनन्द का अनुभव करता है। बन्धनों की निवृत्ति अर्थात मोक्षावस्था का अनुभव शरीर के साथ भी किया जा सकता है जिसे जीवन्मुक्ति की संज्ञा दी गयी है। इसी प्रकार शरीर त्याग के पश्चात् होने वाली मुक्ति को विदेहमुक्ति कहा गया है।

ꖦ पंचम अध्याय ꖦ

उपदेशसाहस्री की अन्य दर्शन-ग्रन्थों एवं दर्शन-पद्धतियों से तुलना :

1. वेदान्त सम्प्रदाय के परवर्ती दार्शनिकों के दर्शन-ग्रन्थों से तुलना (रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य एवं वल्लभाचार्य)
2. विशिष्ट भारतीय दर्शन-पद्धतियों से तुलना (चार्वाक, बौद्ध, जैन, न्याय, वैशेषिक एवं सांख्य)

उपदेशसाहस्री की अन्य दर्शन-ग्रन्थों एवं दर्शन-पद्धतियों से तुलना

किसी भी दर्शन-ग्रन्थ का समग्र अध्ययन तुलनात्मक समीक्षा के बिना सम्पूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाता है। अध्ययन के आधार में असंभावना दोष रहने से चित्त सरल एवं स्वच्छ न होकर संशयाकुल हो जाता है तथा शब्दजन्य ज्ञान चित्त से साक्षात्कार का रूप नहीं ग्रहण कर पाता है। संशय की निवृत्ति तर्क द्वारा संभव है। भारतीय संस्कृति में शास्त्रार्थ की परम्परा द्वारा प्राचीन समय से ही संशयग्रस्त स्थितियों पर नियन्त्रण पाया जाता रहा है। जिस प्रकार दही को मथने से नवनीत की प्राप्ति होती है उसी प्रकार दार्शनिक विचारों के तर्क संगत मन्थन से मानव कल्याण के सर्वमान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता है। अतः किसी भी दर्शन-ग्रन्थ के अध्ययन को सर्वस्पर्शी बनाने के लिए सभी संभाव्य दृष्टिकोणों से तुलनात्मकता प्राप्त कर लेनी चाहिए।

उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए इस अध्याय में उपदेशसाहस्री की तुलनात्मक समीक्षा दो चरणों में सम्पन्न की जा रही है -

1. उपदेशसाहस्री की वेदान्त सम्प्रदाय के परवर्ती दार्शनिकों के दर्शन-ग्रन्थों से तुलना।

2. उपदेशसाहस्री की विशिष्ट भारतीय दर्शन-पद्धतियों से तुलना।

1. उपदेशसाहस्री की वेदान्त सम्प्रदाय के परवर्ती दार्शनिकों के दर्शन-ग्रन्थों से तुलना:-

उपदेशसाहस्री का सिंहावलोकन करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि शङ्कराचार्य ने एकमात्र सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म को ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार का कारण माना है। इस प्रकार उनके अनुसार यह अद्वय ब्रह्म ही इस परिदृश्यमान जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, इसके अतिरिक्त सब कुछ उस ब्रह्म में ही कल्पित होने के कारण मिथ्या है। किन्तु शङ्कर के इन सिद्धान्तों के विरोध में उनके परवर्ती अनेक दार्शनिकों के मत उठ खड़े हुए। जिनमें विशिष्टाद्वैतवाद के लिए रामानुजाचार्य, द्वैतवाद के लिए मध्वाचार्य, द्वैताद्वैतवाद के लिए निम्बार्काचार्य और शुद्धाद्वैतवाद के लिए वल्लभाचार्य प्रमुख रूप से जाने जाते हैं। वास्तव में खण्डन-मण्डन से आचार्य शङ्कर के सिद्धान्तों की महिमा और गरिमा का और अधिक विकास हुआ है। विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से ''उपदेशसाहस्री'' की अन्य परवर्ती दार्शनिकों के दर्शन-ग्रन्थों से तुलना निम्नलिखित क्रम में की जा रही है -

(i) रामानुजाचार्य के दर्शन-ग्रन्थों से तुलना

(ii) मध्वाचार्य के दर्शन-ग्रन्थों से तुलना

(iii) निम्बार्काचार्य के दर्शन-ग्रन्थों से तुलना

(iv) वल्लभाचार्य के दर्शन-ग्रन्थों से तुलना

(i) रामानुजाचार्य के दर्शन-ग्रन्थों से तुलना –

शङ्कर के अद्वैत वेदान्त के बाद रामानुज का विशिष्टाद्वैत दर्शन भी वेदान्त-दर्शन का एक प्रमुख अंग है। शङ्कर की तरह रामानुज भी एक टीकाकार थे तथा उन्होंने शङ्कर के अद्वैत का निषेध कर विशिष्टाद्वैत दर्शन (Qualified Monism) को प्रस्थापित किया। इनका जन्म सन् 1027 ई. में दक्षिण मद्रास के निकट पेरम्बटूर नामक ग्राम में हुआ था। रामानुज के जन्म के कुछ ही दिन बाद इनके पिता का देहान्त हो गया। जब रामानुज के मन में वेदान्त पढ़ने की तीव्र इच्छा हुई तब इन्होंने 'यादव प्रकाश' से वेदान्त पढ़ना प्रारम्भ किया परन्तु अपने इन गुरु से इनका सिद्धान्तों को लेकर मतभेद हो गया। श्री यामुनाचार्य जो कि यादव प्रकाश के गुरु थे, रामानुज के गुणों से अत्यधिक प्रभावित थे। उन्होंने रामानुज को भक्ति प्रसार के लिए श्रीरङ्गम बुलवाया परन्तु रामानुज के वहाँ पहुँचने के कुछ ही दिनों बाद यामुनाचार्य का देहावसान हो गया। यामुनाचार्य की अन्तिम इच्छा के अनुकूल रामानुज ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा। चूँकि रामानुज के हृदय में भक्ति की अविरल धारा प्रवाहित होती थी इसीलिए उन्होंने ब्रह्मसूत्र की भक्तिपरक व्याख्या

प्रस्तुत की, उन्होंने गीता पर भाष्य लिखते समय भी भक्तिरस की प्रबलता को प्रस्थापित करने का प्रयास किया। इनका निधन सन् 1137 ई. में हुआ। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ वेदान्तसार, वेदान्त-दीप, श्रीभाष्य तथा वेदान्त संग्रह है। वेदान्तसार ब्रह्मसूत्र पर टीका है। जिस प्रकार शङ्कराचार्य रचित "उपदेशसाहस्री" में ब्रह्म के स्वरूप के प्रतिपादन के साथ-साथ आत्मा, अविद्या, जीव, जगत् तथा मोक्ष आदि विषयों की व्याख्या की गयी है, कुछ उसी प्रकार की संरचना रामानुजाचार्य के दर्शन-ग्रन्थों में भी दृष्टिगोचर होती है, यद्यपि दर्शन की दृष्टि से रामानुज के शङ्कर से मतभेद मुखरित होते रहते हैं।

ब्रह्मतत्त्व को स्वीकार करना शङ्कर एवं रामानुज के वेदान्त-दर्शन की उच्चतम निधि है परन्तु दोनों दर्शन पद्धतियों की ब्रह्म सम्बन्धी विचारधारा में पर्याप्त अन्तर है। "उपदेशसाहस्री" में शङ्कराचार्य ने ब्रह्म को निर्गुण एवं निरभिधान बताया है।[1] यहाँ पर शङ्कराचार्य के निर्गुण ब्रह्म का आशय यह है कि ब्रह्म शरीरी नहीं है परन्तु शरीराभाव में शरीर रूप से प्रतीत होता है अर्थात् ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण शरीर में व्याप्त होने पर भी उससे लिप्त नहीं होता। जबकि रामानुजाचार्य ने अपने ग्रन्थ "श्रीभाष्य" में अप्रत्यक्ष रूप से ब्रह्म को सगुण रूप में स्वीकार किया है। उनका कथन

1. निर्गुणं निष्क्रियं नित्यं निर्द्वन्दं यन्निरामयम्।
शुद्धं बुद्धं तथा मुक्तं तद् ब्रह्मास्मीति धारयेत्।। (उ.सा. 17/81)

है कि ब्रह्म समस्त हेय गुणों से शून्य है इसीलिये वह निर्गुण है।[2] रामानुज के अनुसार निर्गुण होने का अर्थ यह नहीं है कि वह (ब्रह्म) समस्त गुणों से शून्य है बल्कि वह केवल दुर्गुणों से परे है। इसके अतिरिक्त शङ्कराचार्य ने उपदेशसाहस्री में ब्रह्म को शुद्ध, निर्विकार एवं ज्ञानस्वरूप बताया है[3], जबकि रामानुज ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य एव गीताभाष्य में ब्रह्म को परमानन्द, अनन्तज्ञान, अपरिसीम शक्ति, अखण्ड प्रेम, दया, क्षमा, वीर्य एवं तेज आदि समस्त शुभ लक्षणों से युक्त बताया है।[4] उनके अनुसार ब्रह्म समस्त विश्व की रचना पालन व विनाश, क्रीडामात्र के लिए करता है।[5]

शङ्कराचार्य ने उपदेशसाहस्री में 'ब्रह्मैव जीवः स्वयम्' वाक्य से जीव ब्रह्मैक्य को सिद्ध किया है। जीव की जीवता तभी तक है जब तक कि वह अविद्या से उपहित है। अविद्या की निवृत्ति होने पर जीव अपने वास्तविक स्वरूप ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार शङ्कराचार्य ने जीव एवं ब्रह्म की अभिन्नता का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है।[6] परन्तु इसके विपरीत रामानुजाचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में कहा है कि जीव वह है जो अपने को व्यक्तिवाचक सर्वनाम

---

2. निर्गुणवादश्च परस्यब्रह्मणो हेयगुणसम्बन्धादुपपद्यन्ते (श्रीभाष्य पृ. 83)
3. दृशिस्तु शुद्धोऽहमविक्रियात्मको न मेऽस्ति कश्चिद्विषयः स्वभावतः (उ.सा. 10/2)
4. रा.भा.ब्र.सू. (2/1/37) तथा रा.भा. गीता अध्याय 1 (प्रस्तावना)
5. रा.भा.ब्र.सू. (2/1/33) तथा रा.भा. गीता (1/25)
6. अहं ममैको न मदन्यदिष्यते तथा न कस्याप्यहमस्म्यसङ्गतः।
   असङ्गरूपोऽहमतो न मे त्वया कृतेन कार्यं तव चाद्वयत्वतः।। (उ.सा. 8/4)

"मैं" से सम्बोधित करे और अपनी मुक्तावस्था में भी अपना अहं भाव प्रकाशित रखे।[7] इस प्रकार रामानुज जीव एवं ब्रह्म में एकता नहीं अपितु भिन्नता को स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त रामानुजाचार्य ने अपने ग्रन्थ श्रीभाष्य में ब्रह्म एवं जीव में अंशांशिभाव सम्बन्ध भी माना है जिसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार अग्नि आदित्य का, गोत्व गाय का और मनुष्य शरीर का अंश है उसी प्रकार जीव परमात्मा का अंश है।[8] इस प्रकार रामानुज ने अंशांशिभाव मानते हुए भी ब्रह्म एवं जीव में विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध को स्वीकार किया है जिसके कारण दोनों का स्वाभाविक वैलक्षण्य दृष्टिगोचर होता है।[9]

शाङ्कर वेदान्त और रामानुज वेदान्त की 'तत्त्वमसि' महावाक्य की समन्वय दिशा में भी भेद है। शङ्कराचार्य ने उपदेशसाहस्री के तत्त्वमसिप्रकरण में तत् पद परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यस्वरूप को ब्रह्म एवं त्वम् पद अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यस्वरूप को जीव का बोधक बताया है। अर्थात् तत् एवं त्वम् पद जीव एवं ब्रह्म की एकता का बोध कराते है।[10] जबकि रामानुज ने श्रीभाष्य में कहा है कि तत् पद सर्वज्ञ सत्यसंकल्प एव जगत् कारणरूप ब्रह्म का बोधक है और त्वम् पद अचिद्विशिष्ट जीव शरीरक ब्रह्म का बोधक है।[11] इस

7. स्वरूपेणैव अहमर्थः आत्मा............मुक्तावपि अहमर्थः प्रकाशते। (रा.भा.ब्र.सू.1/1/1)
8. श्रीभाष्य (2/3/45)
9. विशेषण विशेष्ययोरंशांशित्वेऽपि स्वभाववैलक्षण्यं दृश्यते। (श्रीभाष्य 2/3/45)
10. अशनायादिनिर्मुक्तः सिद्धो मोक्षस्त्वमेव सः। (उ.सा. 18/206)
11. तत्त्वमसि अयमात्मा ब्रह्मेत्यादिषु तच्छब्दब्रह्मशब्दवत् त्वमयमात्मेदि शब्द, अपि, जीवशरीरकब्रह्मवाचकत्वेनैकार्थाभिधायित्वात्। (श्रीभाष्य 2/3/45)

प्रकार रामानुज ने तत् पद का अर्थ जगत् कारण ब्रह्म एवं त्वम् पद का अर्थ अन्तर्यामी ब्रह्म का ऐक्य लिया है जो कि शाङ्कर वेदान्त की अवधारणा के सर्वथा विपरीत है। शाङ्कर वेदान्त का जीव विभु एवं सर्वव्यापक तथा समस्त भूतों में समानभाव से रहकर भी जरा, मरण एवं भय से रहित है।[12] परन्तु रामानुजाचार्य ने जीव के विभुत्व का निराकरण करके उसे अणुसिद्ध किया है।[13] शङ्कर और रामानुज की जीव सम्बन्धी विचाराधारा में एक अन्य मौलिक भेद भी प्रकट होता है। शङ्कर के विभु जीव के उत्क्रमण एवं आगमन का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता क्योंकि जीव निर्गुण होने के कारण निरवयव है अतः उसके लिए कोई गन्तव्य देश नहीं है।[14] जबकि रामानुज के अनुसार अणु जीव की उत्क्रान्ति, चन्द्रादिलोकगमन एवं ऊर्ध्व लोकों से आगमन की बात पूर्णतया सिद्ध होती है।[15]

शाङ्कर वेदान्त का जगन्मिथ्यात्व का सिद्धान्त प्रसिद्ध है। शङ्कर ने उपदेशसाहस्री में मिथ्या का तात्पर्य सदसदविलक्षण माना है अर्थात् इस ग्रन्थ में शङ्कर जगत् की व्यावहारिक सत्ता को निःसंकोच स्वीकार करते हैं।[16] परन्तु रामानुज ने जगत् की सत्ता को पृथक् रूप से

12. समस्तभूतेषु सदैव तेष्वयं समः सदात्मा ह्यजरोऽमरोऽभयः। (उ.सा.14/47)
13. नायं सर्वगतः अपित्वणुरेवायमात्मां। (श्रीभाष्य 2/3/20)
14. गन्तव्यं च तथा नैव सर्वगस्याऽचलस्य च।
    नोर्ध्वं नाधस्तिरो नापि निष्फलस्यागुणत्वतः।। (उ.सा 14/36)
15. श्रीभाष्य (2/3/20)
16. फले च हेतौ च जनो विषक्तवान् निति प्रचिन्त्याहमतो विमोक्षणे।
    जनस्य संवादमिमं प्रक्लृप्तवान्स्वरूप तत्त्वार्थविबोधकारणम् (उ.सा. 8/5)

स्वीकार करके उसे मूलतया सत्य माना है। उनके अनुसार जगत् अनिवर्चनीय होते हुए भी उसी प्रकार से सत्य है जिस प्रकार कि ब्रह्म।[17] इसके अतिरिक्त शङ्कराचार्य ने उपदेशसाहस्री में मायाशक्तिसम्पन्न ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त कारण दोनों बताया है। माया के कारण ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है एवं चैतन्यरूप होने के कारण निमित्त कारण है।[18] जबकि रामानुज ने श्रीभाष्य में सृष्टि एवं प्रलय को ब्रह्म की दो स्थितियों के रूप में प्रतिपादित किया है।[19] उनके अनुसार प्रलयावस्था में जो ब्रह्म कारण रूप से स्थित रहता है वही सृष्टिकाल में कार्यावस्था में रहता है। शङ्कर ने उपदेशसाहस्री में कहा है कि जगत् की सत्ता मायिक होने के कारण अज्ञानवश रज्जु में आरोपित सर्प के समान ब्रह्म भी जगत् में आरोपित जान पड़ता है। इसके विपरीत रामानुज सत्कार्यवाद के समर्थक है।[20] उनके अनुसार कारण में कार्य की सत्ता पहले से ही विद्यमान रहती है इसलिए जगत् की कार्यता ब्रह्म के अवस्थान्तर का ही नाम है।[21] इस प्रकार शङ्कर द्वारा मान्य जगत् के स्वरूप से रामानुज द्वारा प्रतिपादित जगत् का स्वरूप सर्वथा भिन्न है।

शाङ्कर वेदान्त एवं रामानुज वेदान्त दोनों ही दर्शन पद्धातियों में

17. Ghate: The Vedanta (Page 173)
18. योऽसौ नामरूपयोर्व्याकर्ता नामरूपविलक्षणः (उ.सा. गद्य 1/23)
19. रा.भा. गीता (13/2 एवं 9/7)
20. Indian Philosophy Vol. II - Dr. Radhakrishnan (Page 596)
21. अवस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता (रा.भा. गीता 13/2)

माया एवं अविद्या की चर्चा की गयी है। लेकिन इस विषय में दोनों दार्शनिकों के दृष्टिकोण भावनात्मक दृष्टि से समान होते हुए भी शाब्दिक रूप से भिन्नता लिए हुए हैं। शङ्कर ने उपदेशसाहस्री में माया शब्द का अर्थ मायावी परमेश्वर की शक्ति के रूप में लिया है और परमेश्वर की इस शक्ति को सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिवर्चनीय एवं मिथ्या बताया है।[22] जबकि रामानुजाचार्य ने माया को परमात्मा की विचित्र शक्ति का रूप दिया है। श्रीभाष्य में माया शब्द को आश्चर्य अर्थ का बोधक माना गया है।[23] इसके अतिरिक्त रामानुज ने अपने गीताभाष्य में माया शब्द का अर्थ कूटयुक्ति भी लगाया है।[24] अविद्या के विषय में शङ्कराचार्य का कहना है कि शरीर के साथ जीव का तादात्म्य भाव उसकी अनादि अविद्या का स्पष्ट प्रमाण है।[25] परन्तु रामानुजाचार्य शरीर के साथ जीव का तादात्म्य, अज्ञान का परिणाम मानते हैं।[26] इस प्रकार शङ्कर की 'अविद्या' रामानुज के 'अज्ञान' के समकक्ष प्रतीत होती है।

शङ्कर और रामानुज की मुक्तिविषयक विचारधारा में भी पर्याप्त

---

22. न हस्ती न तदारूढ़ो मायाव्यन्यो यथास्थितः।
    न प्राणादि न तद्द्रष्टा तथा ज्ञोऽन्यः सदादृशिः।। (उ.सा. 17/30)
23. मायाशब्दो ह्याश्चर्यवाची (श्रीभाष्य 3/2/3)
24. रा.भा. गीता (7/15)
25. बीजं चैकं यथा भिन्नं प्राणस्वप्नादिभिस्तथा।
    स्वप्नजाग्रच्छरीरेषु तद्वच्चात्मा जलेन्दुवत्। (उ.सा. 17/28)
26. शरीरगोचरा चाहं बुद्धिरविद्यैव (रा.भा.ब्र.सू. 1/1/1)

अन्तर है। शङ्कराचार्य के अनुसार मुक्ति जीव की ब्रह्मदशा प्राप्ति का नाम है। इसीलिए उपदेशसाहस्री में जीव-ब्रह्म ऐक्य का प्रतिपादन सुरुचिपूर्ण ढंग से किया गया है। उपदेशसाहस्री में स्पष्ट किया गया है कि जब जीव की अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तब वह ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होता है।[27] इसके विपरीत रामानुजाचार्य ने अपने ग्रन्थ श्रीभाष्य में मुक्त जीव एवं ब्रह्म की पृथक् सत्ता को स्वीकार किया है। अर्थात् मुक्त जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है, न कि स्वरूपैक्य को।[28] उनके अनुसार मुक्तजीव में ब्रह्म के समान सर्वज्ञत्त्व तथा सत्यसंकल्पत्त्व गुण तो आ जाते हैं परन्तु उसमें ब्रह्म के समान सर्वव्यापकत्त्व एवं कर्तृत्त्वगुण नहीं होते। श्रीभाष्य में कहा गया है कि जीव अणु है परन्तु ब्रह्म सर्वव्यापक है।[29] श्रीभाष्यकार रामानुज का मानना है कि मुक्त जीव अनेक शरीरों में प्रवेश कर सकता है एवं ईश्वर के द्वारा सृष्ट-पितृ-लोक आदि लोकों में ईश्वरलीला का आनन्द ले सकता है[30] परन्तु मुक्तजीव का जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा लयरूप व्यापार में अधिकार नहीं होता।[31] शङ्कराचार्य उपदेशसाहस्री में जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति दोनों को स्वीकारते हैं

---

27. यस्मिन्निमित्ते निवर्तिते नैमित्तिकाभावः रोगनिमित्तनिवताविव रोगी स्वभावं प्रपद्येयेति। (उ.सा. गद्य 2/47)

28. श्रीभाष्य (1/1/1)
29. श्रीभाष्य (2/3/36)
30. श्रीभाष्य (4/4/13 एवं 15)
31. श्रीभाष्य (4/4/17)

परन्तु रामानुज के ग्रन्थ श्रीभाष्य के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वे केवल विदेहमुक्ति को ही स्वीकार करते हैं। रामानुज के दर्शन में जीवन्मुक्ति नाम की कोई मुक्ति नहीं है।[32] उनका मानना है कि जब जीव को परमब्रह्म का अनुभव हो जाता है तब उसे शरीर ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।[33]

(ii) निम्बार्काचार्य के दर्शन-ग्रन्थों से तुलना

आचार्य निम्बार्क का दर्शनिक सिद्धान्त द्वैताद्वैतवाद एवं भेदाभेदवाद के सिद्धान्त के नाम से प्रचलित है। यह सिद्धान्त भाष्कर (8 वीं शताब्दी) एवं यादव प्रकाश (11 वीं शताब्दी) के भेदाभेदवाद का विकासमात्र है। यादव के लगभग 100 वर्ष बाद आचार्य निम्बार्क का जन्म हुआ था और उन्होंने भेदाभेद सिद्धान्त के लुप्त गौरव को पुनः प्रतिष्ठित किया जो द्वैताद्वैतवाद के नाम से जाना जाता है। द्वैताद्वैतवाद का तात्पर्य है कि ईश्वर, जीव एवं जगत् में भेद भी है और अभेद भी है। जिस प्रकार जल की लहरें जल से भिन्न एवं अभिन्न दोनों ही हैं उसी प्रकार जीव एवं जगत् ईश्वर से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं। द्वैताद्वैतवादी निम्बार्क के अनुसार द्वैत एवं अद्वैत दोनों ही सत्य हैं। निम्बार्काचार्य के प्रमुख ग्रन्थ वेदान्तपरिजात

---

32. For Ramanuja there is no "Jivan Mukti" - Indian Philosophy Vol II page 710 (Dr. Radhakrishnan)

33. श्रीभाष्य (4/4/20)

सौरभ, वेदान्त रत्नमंजूषा, दशश्लोकी एवं निम्बार्कभाष्यब्रह्मसूत्र हैं। इन ग्रन्थों का उपदेशसाहस्री के साथ तुलनात्मक विवेचन इस प्रकार है -

उपदेशसाहस्री में शङ्कराचार्य ने ब्रह्म और जीव में अभेद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार रज्जु में भ्रमवश होने वाली सर्पबुद्धि जिस प्रकार अविद्या की निवृत्ति से दूर हो जाती है उसी प्रकार युक्तिपूर्वक 'तत् त्वम् असि' (तू वह ब्रह्म है) इत्यादि गुरुपदेश के द्वारा अहंकारादि अनात्मधर्मों का जब निषेध हो जाता है तब जीव अपने वास्तविक स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करता है।[34] किन्तु निम्बार्काचार्य के अनुसार जीव और ब्रह्म किसी दृष्टि से दो हैं तो किसी दृष्टि से दो नहीं है। निम्बार्कभाष्यब्रह्मसूत्र में स्पष्ट रूप से ब्रह्म और जीव में भेद और अभेद अथवा भेद में अभेद का सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। अर्थात् ईश्वर (ब्रह्म) का जीव और जगत से भेद भी है और अभेद भी है।[35] निम्बार्क का मत है कि जिस प्रकार कार्य कारण से भिन्न और अभिन्न दोनों है उसी प्रकार मूर्त और अमूर्त वस्तुओं समेत समस्त विश्व अपने मूलकारण ब्रह्म या ईश्वर से भिन्न और अभिन्न दोनों

34. सिद्धादेवाहमित्यस्माद्युष्मद्धर्मो निषिध्यते।
रज्ज्वामिवाहिधीर्युक्त्या तत्त्वमित्यादिशासनैः।। (उ.सा. 18/4)

35. सर्वभिन्नाभिन्न................(नि.भा.ब्र.सू. 1/1/4)

प्रकार के सम्बन्धों में स्थित है।[36] इसी प्रकार वेदान्तरत्नमंजूषा एवं दशश्लोकी में निम्बार्काचार्य बताते हैं कि नारायण रूप ईश्वर समस्त जगत् में व्याप्त है परन्तु जीव और ईश्वर का भेदाभेद सम्बन्ध प्रत्येक दशा में विद्यमान रहता है।[37] शङ्कराचार्य ने उपदेशसाहस्री में ब्रह्म को निर्गुण एवं निष्क्रिय बताया है। अनेक अनुसार ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण शरीर में व्याप्त होने पर भी उससे लिप्त नहीं होता है।[38] किन्तु निम्बार्काचार्य ने अपने दर्शन-ग्रन्थों में ब्रह्म के सगुण रूप को ही मान्यता प्रदान की है। अपने ग्रन्थ दशश्लोकी में उन्होंने कमलनेत्र कृष्ण को ईश्वर का रूप दिया है।[39]

शङ्कराचार्य ने उपदेशसाहस्री में जीव को ज्ञानस्वरूपमात्र बताया है। उनके अनुसार प्रत्येक जीव की विलक्षणता शरीर और ज्ञानेन्द्रिय जैसी उसकी उपाधियों के कारण है। स्वरूपतः वे एक ही हैं क्योंकि वस्तुतः प्रत्येक जीव ब्रह्म है।[40] परन्तु निम्बार्क दर्शन के अन्तर्गत जीव एक ही काल में उसी प्रकार से ज्ञान का स्वरूप एवं आश्रय दोनों ही है जैसे कि सूर्य, प्रकाश का स्वरूप एवं आश्रय दोनों होता है।[41]

---

36. मूर्त्तामूर्त्तादिकं विश्वं ब्रह्मणि स्वकारणे भिन्नाभिन्न सम्बन्धेन स्थातुमर्हति (नि.भा.ब्र.सू. 3/2/27)
37. वेदान्तरत्नमंजूषा, दशश्लोकी (9)
38. उ.सा. (10/7)
39. दशश्लोकी (4)
40. उ.सा. (17/88)
41. ज्ञान स्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
    अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तंथदनन्तमाहुः।। (दशश्लोकी 1)

शङ्कर की मान्यता के विपरीत आचार्य निम्बार्क जीव और उसके ज्ञान में धर्मधर्मिभाव स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि इन दोनों के ज्ञानत्त्व विषय में भेद न होने पर भी जीव धर्मी और ज्ञान उसका धर्म है।[42] अनादि माया से युक्त होने के कारण जीव का धर्मभूत ज्ञान संकुचित हो जाता है तथा भगवान के प्रसाद से ही हरि के सत्यरूप का ज्ञान हो सकता है।[43] जीव सदा ईश्वर के अधीन होने के कारण नियम्य है एवं ईश्वर नियन्ता है। जीव की कर्त्तृत्व एवं भोक्त्तृत्व रूप अहं बुद्धि मुक्तावस्था तक बनी रहती है। निम्बार्क के मत में मुक्तावस्था में भी जीव के कर्त्तृत्व में बाधा नहीं पड़ती।[44]

अद्वैत वेदान्त में जगत् ब्रह्म का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। शङ्कर ने जगत् को सत् एवं असत् से विलक्षण अनिवर्चनीय बताया है। उन्होंने उपदेशसाहस्री में स्पष्ट किया है कि जगत् परमार्थतः असत् है एवं व्यवहारतः सत् है।[45] निम्बार्काचार्य के अनुसार मूल रूप में जगत् अचित् पदार्थ है। उन्होंने जड़ जगत् के तीन रूप माने हैं - प्राकृत अप्राकृत और काल। महत्तत्त्व से लेकर महाभूत पर्यन्त जगत् प्राकृत है। यह प्रकृति स्वतन्त्र न होकर ईश्वर के

42. वेदान्तपरिजात सौरभ (2/3/27)
43. दशश्लोकी (2)
44. The Vedanta - Ghate (Page 9)
45. स्वप्नः सत्यो यथाबोधाद्दहात्मत्वं तथैव च। (उ.सा. 11/5)

द्वारा नियंत्रित है। भगवान के लोक एवं अलंकारादि अप्राकृत पदार्थ हैं। ये प्रकृति के गुणों द्वारा निर्मित नहीं होते। कालतत्त्व ही संसार के समस्त चक्रों का नियामक है परन्तु ईश्वर उसका भी नियन्ता है। काल, स्वरूप से नित्य होते हुए भी कार्यरूप से अनित्य है।

शङ्कर के अनुसार आत्मा विकाररहित होने के कारण बन्धन एवं मोक्ष के प्रश्न से अतीत है परन्तु अविद्यावश जीव कोटि में आने पर उसमें जगत् के सम्बन्ध से ममत्व-परत्व आदि अनेक बन्धन उत्पन्न हो जाते हैं। जिसके कारण जीव आत्मबोध करने में असमर्थ रहता है। जब बन्धन की मूलभूता अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तभी जीव मुक्त कहलाता है। उपदेशसाहस्री में शङ्कराचार्य स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि अज्ञान का नाश ही मोक्ष है।[46] उनके अनुसार ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर मुमुक्षु ब्रह्म ही हो जाता है।[47] इस विषय में निम्बार्क का मत है कि अनादि काल से जीव अज्ञान के वश में होकर अनेक कर्म करता है और इसी कर्म-सम्बन्ध से उसे "बन्धन" प्राप्त होता है। मोक्ष की प्राप्ति इस बन्धन से छुटकारा मिलने पर ही होती है। अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में निम्बार्क स्पष्ट करते हैं कि नारायण के स्वरूप का ज्ञान होने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है।[48] उनके अनुसार यह तभी सम्भव है जब

---

46. उ.सा. (16/62)
47. उ.सा. (13/18)
48. कर्ता शास्त्रार्थत्वात् (ब्र.सू.नि.भा. 2/3/32)

भगवान का स्वतः अनुग्रह हो – हरेरनुग्रहात् तत्स्वरूपावगतौ मोक्षः। इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों दार्शनिकों के मोक्ष सम्बन्धी विचारों में कोई विशेष भेद नहीं है। जहाँ शङ्कर आत्मा के वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति को मोक्ष मानते हैं वहीं निम्बार्काचार्य नारायण के स्वरूप का ज्ञान होने को मोक्ष कहते हैं।

(iii) मध्वाचार्य के दर्शन-ग्रन्थों से तुलना

मध्वाचार्य जिन्हें पूर्णप्रज्ञ तथा आनन्दतीर्थ के नाम से भी जाना जाता है, 1199 ई. में दक्षिण भारत के कनारा जिले में उदीपी के निकट एक ग्राम में जन्मे थे। वे बहुत जल्दी ही सन्यासी हो गए। उन्होंने अपने गुरु अच्युतप्रेक्ष के साथ, जो कि शङ्कर के अद्वैतमत के अनुयायी थे, वाद-विवाद करके अपने द्वैतपरक दर्शन का विकास किया। उन्होंने विष्णु को परमेश्वर घोषित किया, उदीपी में कृष्ण मन्दिर की स्थापना की और यज्ञों में पशुबलि का निषेध करके एक उपयोगी समाज सुधार किया। उनकी मृत्यु 1303 ई. में हुई।

शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद के विपरीत द्वैतवाद सिद्धान्त के समर्थक मध्वाचार्य ने ईश्वर और जीव, ईश्वर और जगत्, जीव और जगत्, जीव और जीव, जड और जड में भी भेद की व्यवस्था की है। इस भेद व्यवस्था के अनुसार जीव एवं जगत् को अद्वैत वेदान्त की तरह मिथ्या न मानकर सत्य ही माना गया है। द्वैतवाद के

प्रस्थापन हेतु मध्वाचार्य ने ब्रह्मसूत्र के ऊपर एक भाष्य लिखा है और 'अणु व्याख्यान' नामक एक अन्य ग्रन्थ में अपनी उक्त व्याख्या को युक्तियुक्त ठहराया है। उनके द्वारा रचित महाभारत का संक्षिप्तसार 'भारततात्पर्यनिर्णय' के नाम से प्रसिद्ध है। उनके अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ विष्णुतत्त्वनिर्णय, तत्त्वविवेक, न्यायविवरण, कथालक्षण तथा उपाधिखण्डन आदि हैं।

शङ्कराचार्य ने ब्रह्म एवं जीव तथा ब्रह्म एवं जगत् में कोई तात्त्विक भेद न करते हुए इनको एक ही माना है। उन्होंने उपदेशसाहस्री में यह स्पष्ट कर दिया है कि ब्रह्म सम्पूर्ण चराचर जगत् में विद्यमान है।[49] किन्तु मध्वाचार्य शङ्कर के इस अद्वैतवाद के पूर्ण विरोधी और द्वैतवाद के प्रतिपादक हैं वे अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में स्पष्ट रूप से ब्रह्म और जीव के मध्यगत भेद को यथार्थ मानते हैं।[50] उनका मत है कि यह समझना भूल है कि मोक्ष की अवस्था में जीव और ब्रह्म अभिन्न हो जाते हैं। दो भिन्न पदार्थ किसी भी समय में अभिन्न नहीं हो सकते और इसके विपरीत दो अभिन्न पदार्थ भिन्न नहीं हो सकते। ब्रह्म के ऊपर हर प्रकार से आश्रित होते हुए भी जीव तात्त्विक रूप में क्रियाशील कर्त्ता है और उसके ऊपर

49. स्थावरं जङ्गमं चैव द्रष्टृत्वादिक्रियायुतम्।
सर्वमक्षरमेवातः सर्वस्याऽऽत्माऽक्षरं त्वहम्।। (उ.सा. 14/21)

50. ब्र.सू.म.भा. (1:2, 12)

जिम्मेदारियाँ भी हैं।[51]

इसके अतिरिक्त उपदेशसाहस्री में शङ्कराचार्य ने ब्रह्म को निर्गुण, निष्कल, शुद्ध एवं अकथनीय बताया है।[52] किन्तु मध्वाचार्य का कथन है कि परमेश्वर की अवाच्यता का यही आशय है कि उसका पूर्णज्ञान होना कठिन है।[53] मध्वाचार्य ने ब्रह्म को सगुण एवं साकार रूपधारी विष्णु के रूप में माना है और कहा है कि वह अपनी इच्छा से संसार का स्रष्टा एवं संहारकर्ता है। उसकी देह अतिप्राकृतिक है तथा उसे सब संसार से ऊपर माना गया है। इस प्रकार ब्रह्म संसार में अर्न्तनिहित भी है क्योंकि वह सब जीवात्माओं में अन्तर्यामी है।[54] मध्वाचार्य के अनुसार विष्णु संसार के कल्याणार्थ मत्स्यादि रूप से अवतार ग्रहण करते हैं एवं विष्णु के समस्त अवतार पूर्ण हैं।[55] जहाँ एक ओर शङ्कराचार्य ब्रह्म को जगत् का उपादान एवं निमित्त दोनों कारण मानते हैं वहीं दूसरी ओर मध्वाचार्य प्रकृति को जगत् का उपादान कारण मानते हैं। उनका कहना है कि जो ईश्वर ज्ञानस्वरूप है उससे जड़ जगत् की उत्पत्ति किस प्रकार सम्भव है।[56]

---

51. ब्र.सू.म.भा. (2:3, 33-42)
52. निष्कलो निर्गुणः शुद्धस्तं मनो वाक्च नाप्नुतः। (उ.सा. 15/29)
53. ब्र.सू.म.भा. (1/1/5)
54. ब्र.सू.म.भा. (1:2, 13)
55. भारतीय दर्शन - बलदेव उपाध्याय (पृ. 481 से उद्धृत)
56. The Vedanta - Ghate (Page 34)

शङ्कराचार्य ने ब्रह्म की शक्ति माया को ब्रह्म से अभिन्न बताया है[57] जबकि मध्वाचार्य के अनुसार परमात्मा की शक्ति लक्ष्मी परमात्मा से भिन्न है और यह लक्ष्मी दिव्य शरीरधारिणी होने के कारण अक्षरस्वरूपा है। परमात्मा की तरह लक्ष्मी नित्यमुक्ता तथा देश एवं काल की दृष्टि से परमात्मा के ही समान व्यापक है।[58] इस प्रकार मध्वाचार्य की परमात्मभिन्ना नित्यमुक्ता एवं दिव्यशरीरधारिणी शक्ति (लक्ष्मी) का स्वरूप शाङ्कर वेदान्त की ईश्वरभिन्न अज्ञानस्वरूपा एवं जड़ माया से भिन्न है।

शङ्कराचार्य उपदेशसाहस्री में श्रुति प्रतिपादित अस्थूलत्वादि वाक्यों के पर्यालोचन से जीवों के मध्य "मैं स्थूल हूँ", "मैं कृश हूँ" जैसी होने वाली भ्रान्तियों की निवृत्ति, ब्रह्म से उनकी (जीवों की) अभिन्नता द्वारा करते हैं। इस प्रकार जीवों के मध्य के भेदभाव का स्वतः ही बाध हो जाता है।[59] किन्तु मध्वाचार्य जीवों के बीच आपस में वैयक्तिक और वर्णगत भेद को स्वीकार करते हैं।[60] उनके अनुसार जीव तीन प्रकार के हैं - नित्य, मुक्त और बद्ध। नित्य जीव वे हैं जो लक्ष्मी की तरह सदा मुक्त रहते हैं। वे कभी बंधन में नहीं पड़ते। दूसरे ज़ीव वे हैं जो सदा मुक्त तो नहीं

57. उ.सा. (17/27)
58. भारतीय दर्शन - बलदेव उपाध्याय (पृ. 482 से उद्धृत)
59. उ.सा. (3/2)
60. म.भा.ब्र.सू. (1/1/17)

रहते, किन्तु उन्होंने बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर ली है। ये मुक्त जीव कहलाते हैं। देवता, पितृ और ऋषि बंधन से छुटकारा पाये मुक्त जीव हैं। बद्ध जीव बन्धन में पड़े हुए हैं। इनमें से कुछ को सदा बंधन में ही रहना है उनके भाग्य में नर्क या संसार का चक्र ही आता है। नर्क में रहने वाले जीव 'तमोयोग्य' और संसारचक्र में रहने वाले 'नित्यसंसारी' कहलाते हैं। वे मुक्ति के अधिकारी नहीं हैं। किन्तु बन्धन में पड़े सब जीवों का भाग्य ऐसा नहीं है। उनमें से कुछ की मुक्ति सम्भव है। ऐसे जीवों को 'मुक्ति योग्य' कहते हैं। उन्हें आशा रखनी चाहिए कि ईश्वर की कृपा से एक दिन ऐसा आयेगा जब वे संसार की दुःखद दशा से और जन्म-मरण के चक्कर से छूट जायेंगे और तब उनका आनन्दमय स्वरूप प्रकट हो जायेगा। इसके अतिरिक्त शङ्कराचार्य ने जीव को शरीर-इन्द्रिय आदि उपाधियों से युक्त होने पर ही ब्रह्म से भिन्न माना है, वस्तुतः तो जीव और ब्रह्म में अभेद ही है।[61] जबकि मध्वाचार्य ने जीव को परमात्मा से भिन्न बताया है। उन्होंने 'तत्त्वनिर्णय' में स्पष्ट कर दिया है कि समस्त जीव परस्पर एक दूसरे से भिन्न है तथा परमाणु प्रदेश में रहने वाले जीव अनन्त हैं।[62] समस्त जीवों का आधार परमात्मा है और परमात्मा ही जीवों को उनके

61. उ.सा. (17/58)

62 परमाणु प्रदेशष्वनन्ताः प्राणिराशयः। (तत्त्वनिर्णय)

पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार कर्म करने के लिए प्रवृत्त करता है।[63] मध्वाचार्य के अनुसार जीव की स्वकल्पना भी ईश्वर की इच्छा पर ही आधारित है।[64]

शाङ्कर वेदान्त के विपरीत द्वैतवादी आचार्य मध्व, जीव एवं जगत् को मिथ्या न मानकर सत्य सिद्ध करते हैं। इस प्रकार ब्रह्म, जीव एवं जड़ जगत् में अभेद न मानकर भेद सिद्ध करना मध्व दर्शन की प्रमुख विशेषता है।[65] मध्वाचार्य के अनुसार 'तत्त्वमसि' जैसे अद्वैत सिद्धान्त-समर्थक महावाक्य, वास्तव में द्वैत सिद्धान्त के ही समर्थक हैं। शङ्कराचार्य के अनुसार तत्त्वमसि का तात्पर्य है 'तत् त्वम् असि' (वह तुम हो) अर्थात् जीव और ब्रह्म में एकता ही तत्त्वमसि का अर्थ है। जबकि मध्वाचार्य तत्त्वमसि से जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य को न स्वीकार करके यह अर्थ ग्रहण करते हैं कि जीवात्मा एवं परमात्मा की मूलभूत विशेषताओं में समानता है।[66] इस सम्बन्ध में मध्वाचार्य ने अपने भाष्य में जीव और ब्रह्म के भेद का प्रतिपादन किया है।[67] उन्होंने तत्त्वमसि का अर्थ 'त्वम् तदीय: असि' एवं 'त्वम् तस्य असि' भी स्वीकार किया है।[68] आचार्य मध्व

---

63. म.भा.ब्र.सू. (1/4/25)
64. म.भा.ब्र.सू. (3/2/3, 5)
65. The Vedanta: Ghate (page 33)
66. म.भा.ब्र.सू. (2/3/29)
67. भिन्ना: जीवा: परोभिन्नस्तथापिज्ञानरूपत:।
    प्रोच्यते ब्रह्मरूपेण वेदवादेषु सर्वश:।। (भविष्यपुराण मध्वभाष्य 2/3/29)
68. The Vedanta: Ghate (Page 34)

'स आत्मा तत्त्वमसि' को 'स आत्मा अतत्त्वमसि' के रूप में ग्रहण करते हैं।[69]

जीव एवं जगत् के विषय में मतभिन्नता के बावजूद अविद्या के विषय में दोनों दार्शनिकों के विचारों में काफी हद तक साम्य भी प्रकट होता है। शङ्कर के अनुसार जीव वास्तव में ब्रह्म ही है परन्तु अविद्या के वशीभूत होकर वह अपने को उससे पृथक् समझने लगता है। मध्वदर्शन के अनुसार अविद्या प्रकृति का ही रूप है। इस अविद्या के दो रूप हैं - जीवाच्छादिका एवं परमाच्छादिका अविद्या जीवाच्छादिका रूप में जीव की आध्यात्मिक शक्ति को आछन्न कर लेती है और अपने परमाच्छादिका रूप में परमात्मा को आवृत्त कर लेती है। परमाच्छादिका अविद्या के आवरण के कारण ही जीव परमात्मा का साक्षात्कार करने में असमर्थ रहता है।[70] शङ्कराचार्य ने मोक्ष के सम्बन्ध में उपदेशसाहस्री में स्पष्ट किया है कि मोक्ष का एकमात्र कारण ज्ञान ही है। इसलिए अज्ञान निवृत्ति रूप मोक्ष की निष्पत्ति में कर्म की सहायता की आशा करना व्यर्थ है। मध्वाचार्य भी मोक्ष के सम्बन्ध में ज्ञान को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान के द्वारा ही ईश्वर के ऊपर पूर्ण निर्भरता तथा उसके प्रति प्रेम का भाव उत्पन्न होता है।[71] सब वस्तुओं के विषय में यथार्थज्ञान

---

69. Indian Philosophy Vol II - Radhakrishnan (Page 746)
70. उ.सा. (11/15)
71. म.भा.ब्र.सू. (3/3/49)

(भौतिक तथा आध्यात्मिक) हमें ईश्वर के ज्ञान की ओर ले जाता है और उसका स्वाभाविक परिणाम ईश्वर के प्रति प्रेम है। अपने ग्रन्थ 'तत्त्वविवेक' के अन्त में मध्व कहते हैं - "यह निश्चित है कि वह व्यक्ति जो यह समझ लेता है कि यह सब जीवन सदा ही हरि के वश में रहता है, संसार से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मध्व-दर्शन की मुक्ति, अद्वैत वेदान्त की तरह जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य की समर्थक नहीं है। मध्व समर्थित मुक्ति के अनुसार जीव एवं परमेश्वर के चैतन्यांश में ही एकता है। परन्तु गुण दृष्टि से विचार करने पर जीव एवं परमेश्वर का पार्थक्य सिद्ध ही है। जहाँ एक ओर शाङ्कर दर्शन में मुक्तावस्था में जीव सत्-चित्-आनन्द रूप हो जाता है वहीं मध्वदर्शन के अनुसार मुक्तावस्था में भी जीव समान रूप से आनन्द का अनुभव नहीं करते।[72]

(iv) वल्लभाचार्य के दर्शन-ग्रन्थों से तुलना -

शङ्कर के उपरान्त चार सम्प्रदायों की स्थापना करने वाले अनुपंथी वेदान्ताचार्यों में श्री वल्लभाचार्य (1481 ई. - 1533 ई.) सबसे अन्तिम

---

72. दुःखाभावः परानन्दो लिङ्गभेदाः समानताः
तथापि परमानन्दो ज्ञानभेदस्तु भिद्यते। (मध्वसिद्धान्तसार पृष्ठ 32)

थे। इन्होंने तीसरी शताब्दी में हुए विष्णुस्वामी के मत को विकसित और प्रसिद्ध किया, किन्तु सामान्यतः वल्लभाचार्य को ही शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादक कहा जाता है।

"शुद्धाद्वैत" शब्द दो पदों से मिलकर बना है - शुद्ध और अद्वैत। शुद्धाद्वैत पद में गिरिधर महाराज ने कर्मधारय एवं षष्ठी तत्पुरुष दो समास बताया है। कर्मधारय का विग्रह है - शुद्धं चेदम् अद्वैतम् शुद्धाद्वैतम् एवं षष्ठी तत्पुरुष का विग्रह है - शुद्धयोः अद्वैतम् शुद्धाद्वैतम्। जिसका तात्पर्य है - माया सम्बन्ध से रहित शुद्ध ब्रह्म।[73] इस प्रकार शुद्धाद्वैत के अनुसार शुद्ध ब्रह्म ही कार्यरूप में अभिव्यक्त होता है जो शङ्कर के "केवलाद्वैत" से भिन्न है। शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय पुष्टि मार्ग भी कहलाता है क्योंकि वह भगवत् कृपा को मानव जीवन के लिए सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु मानता है।

श्री वल्लभाचार्य की वेदशास्त्रों में, विशेषतः श्रीमद्भागवत्पुराण और श्रीमद्भगवद्गीता में असीम निष्ठा थी। उनको लगभग चौरासी पुस्तकों का रचयिता माना जाता है।[74] इनमें से ब्रह्मसूत्र और भागवत् पुराण पर उनके भाष्य एवं पुस्तक 'तत्त्वदीप' अधिक प्रसिद्ध हैं। उपदेशसाहस्री के साथ वल्लभाचार्य के दर्शन ग्रन्थों का तुलनात्मक

---

73. माया सम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यतेबुधैः
कार्यकारण रूपं हि शुद्ध ब्रह्म न मायिकम्। (शुद्धाद्वैतमार्तण्ड 28)

74. History of Indian Philosophy Vol. IV (Page 373)

विवेचन इस प्रकार है -

शङ्कराचार्य ने निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार किया है और वल्लभाचार्य ने सगुण पुरूषोत्तम को। यद्यपि अद्वैत वेदान्त में भी अपर ब्रह्म के नाम से सगुण ब्रह्म की चर्चा मिलती है किन्तु उसकी सत्ता केवल उपासनार्थ है। उपदेशसाहस्री में शङ्कराचार्य ने निर्गुण ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य बताया है।[75] किन्तु शङ्कर की ब्रह्म अवधारणा के विपरीत वल्लभ का ब्रह्म अनन्त गुणों का धारक, रचयिता और नियन्त्रक है।[76] वल्लभ ने यह भी स्वीकार किया है कि वे उपनिषद् जिन्होंने ब्रह्म को निर्गुण बताया है उसे गुणों से रहित नहीं कहते। उनका तात्पर्य केवल प्रकृति या साधारण गुणों का निषेध करना ही है।[77] वस्तुतः वल्लभ की ब्रह्म विषयक अवधारणा शङ्कर से मिलती जुलती है परन्तु उन्होंने शङ्कर की भाँति ब्रह्म के दो रूप सगुण एवं निर्गुण की कल्पना नहीं की है।

उपदेशसाहस्री में जीव को ब्रह्म का ही एक रूप माना गया है तथा "ब्रह्मैव जीवः स्वयम्" वाक्य से जीव ब्रह्मैक्य को सिद्ध किया गया है। शङ्कर ने जीव की सत्ता को अविद्योपाधिक होने के कारण मिथ्या बताया है[78] परन्तु वल्लभ दर्शन के अनुसार जीव

75. उ.सा. (15/37)
76. भागवत् टीका सुबोधिनी (11/4/2)
77. ब्र.सू.व.भा. (3/2/22)
78. उ.सा. (17/11)

मिथ्या न होकर ब्रह्म के समान सत्य है।[79] वल्लभाचार्य जीव को शाश्वत मानते है[80] एवं उनके अनुसार ब्रह्म के साथ उसका सम्बन्ध अंश और अंशी का है।[81] अर्थात् उसकी अन्तः प्रकृति चेतन और आनन्दमय है इसलिए वह ब्रह्म न होकर ब्रह्म के जैसा है। इस प्रकार वल्लभ जीव और ब्रह्म में तादात्म्य का भाव नहीं रखते हैं।

शंकराचार्य जगत् को मायिक होने के कारण मिथ्या बताते हैं क्योंकि माया स्वयं मिथ्या है। उनके अनुसार जगत् व्यावहारिक दृष्टि से सत् है किन्तु परमार्थतः मिथ्या है। उपदेशसाहस्री में शङ्कराचार्य ने स्पष्ट किया है कि संसार में रहकर मनुष्य कर्त्ता-भोक्तारूप मिथ्या सम्बन्ध स्थापित कर लेता है।[82] किन्तु वल्लभ के अनुसार जगत् भ्रामक या असत् नहीं है।[83] उनके अनुसार जगत् की रचना और स्थिति ब्रह्म की सत् इच्छा पर आधारित है। अतः वह ब्रह्म के समान ही सत् है। वे संसार को ब्रह्म का कार्य मानकर यह कहते हैं कि संसार मूल रूप में ब्रह्म ही है। जैसे स्वर्ण के सब आभूषण तत्त्वतः स्वर्ण ही होते हैं वैसे ही संसार के सब पदार्थ ब्रह्म ही हैं।[84]

79. Indian Philosophy - Dr. Radhakrisnan (Vol.II, Page 757)
80. ब्र.सू.व.भा. (2/3/19)
81. ब्र.सू.व.भा. (2/3/43)
82. उ.सा. (12/7)
83. अणुभाष्य (1/1/14)
84. भागवत् टीका सुबोधिनी (11/28/19)

शाङ्कर वेदान्त में माया शक्ति के कारण ब्रह्म जगत् का उपादान एवं निमित्त दोनों कारण है। जबकि वल्लभ दर्शन के अनुसार जीव एवं जगत् की सत्ता ब्रह्म का ही कार्यरूप है। इस प्रकार वल्लभ ब्रह्म और जगत् में समवायि-कारण मानते है।[85] शङ्कर जगत् को ब्रह्म का विवर्त्त कहकर वितर्त्तवाद सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं परन्तु वल्लभाचार्य का सिद्धान्त विवर्त्तवाद न होकर अविकृत परिणामवाद का सिद्धान्त है।[86] उपदेशसाहस्री में संसार की रचना में माया को सर्वशक्तिमान ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति माना गया है। शङ्कर के अनुसार अपनी अनिवर्चनीय दिक्शक्ति (माया) के कारण ही वह विश्व की रचना करता है और स्वयं उससे अप्रभावित रहता है।[87] किन्तु वल्लभ संसार की रचना करने के लिए माया की कल्पना नहीं करते हैं। उनके मतानुसार माया के द्वारा संसार की उत्पत्ति बताने का अर्थ है ब्रह्म के अतिरिक्त एक और तत्त्व स्वीकार कर लेना जो कि असम्भव है क्योंकि इससे शास्त्रों में प्रतिपादित अद्वैत का खण्डन होता है।

शङ्कराचार्य एवं वल्लभाचार्य के मुक्तिपरक् विचारों में भी पर्याप्त भेद है। शाङ्कर वेदान्त के अन्तर्गत जीव को आत्मानन्द की स्थिति

---

85. अणुभाष्य पर पुरुषोत्तमाचार्य की टीका (पृ. 90)
86. अणुभाष्य (पृ. 92)
87. उ.सा. (17/20)

में जो आनन्दानुभव होता है वह इन्द्रिय मन एवं बुद्धि से अतीत है क्योंकि आत्मा इन्द्रियादि से परे है।[88] इसके विपरीत वल्लभ ने मुक्ति के स्वरूप का विचेचन करते हुए कहा है कि भक्त को इन्द्रियों एवं अन्तःकरण के द्वारा ही आनन्द का अनुभव होता है।[89]

इसके अतिरिक्त शङ्कराचार्य एवं वल्लभाचार्य दर्शन के अन्तर्गत सबसे बड़ा भेद ज्ञान एवं भक्ति का है। क्योंकि शाङ्कर दर्शन रूपी भवन "ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः" अर्थात् ज्ञानरूपी नींव पर आधारित है। उपदेशसाहस्री के प्रारम्भ में ही शङ्कराचार्य ने कहा है कि जीव को स्वरूपज्ञान (ब्रह्मज्ञान) के बिना मोक्ष की उप्लब्धि नहीं हो सकती।[90] परन्तु वल्लभाचार्य जीव की मुक्ति के लिए केवल भक्ति को ही स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार भक्ति का अर्थ है - भगवान की महिमा का ज्ञान और उसके प्रति स्थायी परम प्रेम।[91] उन्होंने अपने ग्रन्थ भक्तिमार्तण्ड में कहा है कि भक्ति मुक्ति का अनिवार्य साधन है, ज्ञान तो भक्ति का बाधक है।[92]

---

88. उ.सा. (18/193)
89. तत्त्वदीपन पर वल्लभाचार्य की टीका (पृ. 77)
90. उ.सा. (1/7)
91. माहात्म्यज्ञान पूर्वस्तु सुदृढ सर्वतोधिकः।
    स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा।। (तत्त्वार्थदीप पृ 65)
92. भक्तिमार्तण्ड (पृ. 137)

इस प्रकार, उपदेशसाहस्री की रामनुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य एवं मध्वाचार्य के दर्शन-ग्रन्थों के साथ तुलना करते समय विरोध एवं साम्य दोनों ही देखने को मिलते हैं। शङ्कराचार्य के परवर्ती होने के कारण, रामानुजादि आचार्यों की दर्शनपद्धतियों के कुछ विचार, शाङ्कर सिद्धान्त के समान हैं क्योंकि उन पर शाङ्कर वेदान्त का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव है। जहाँ तक शाङ्कर वेदान्त और रामानुजाचार्य आदि के सिद्धान्तों के विरोध-विवेचन का प्रश्न है, वहाँ यह कहा जा सकता है कि श्रुतिसाम्मत्य, सिद्धान्तप्रतिष्ठा, तर्कपुष्टता, वैज्ञानिक-विवेचनशीलता, दर्शनिकता और सुस्पष्टता के जो गुण शङ्कराचार्य के दर्शन में मिलते हैं, वे इतर दार्शनिकों के दर्शन में नहीं प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि रामानुजप्रभृति अनेक आचार्यों द्वारा शाङ्कर वेदान्त का निराकरण होने पर भी आजतक शाङ्कर वेदान्त की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार सुवर्ण घिसने काटने एवं गलाने आदि क्रियाओं के कारण अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त करता है तथा और अधिक चमकने लगता है उसी प्रकार शङ्कराचार्य का सिद्धान्त भी परवर्ती दर्शनिकों के द्वारा मन्थन किए जाने पर और अधिक प्रभावशाली हो गया है।

2. उपदेशसाहस्री की विशिष्ट भारतीय दर्शन-पद्धतियों से तुलना:-

भारत में यद्यपि सभी दर्शनों का विकास एक ही साथ नहीं हुआ है, फिर भी उनमें एक अद्भुत सहयोग है। भारतीय दर्शन को जीवन का एक अङ्ग मानने के कारण सभी दर्शन साथ-साथ जीवित रहे हैं। भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों को मुख्यत: दो भागों में विभक्त किया जाता है - आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन।

भारतीय विचारधारा में आस्तिक दर्शन उसे कहा जाता है, जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास करता है और नास्तिक दर्शन उसे कहते हैं जो वेद को प्रमाण नहीं मानते हैं। इस दृष्टिकोण से भारतीय दर्शन में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त इन छ: दर्शनों को आस्तिक दर्शन कहा जाता है। इनको षड्दर्शन भी कहते हैं। ये दर्शन किसी न किसी रूप में वेद पर आधारित हैं। नास्तिक दर्शन के अन्तर्गत चार्वाक, जैन एवं बौद्ध को रखा जाता है। इस प्रकार नास्तिक दर्शन केवल तीन हैं। इनको नास्तिक दर्शन कहा जाने का मूल कारण यह है कि ये वेद की निन्दा करते हैं।

उपदेशसाहस्री में अद्वैत वेदान्त दर्शन अत्यन्त सुरुचिपूर्ण ढंग से

मुखरित हुआ है, किन्तु अपने विचारों को आयाम प्रदान करते समय कई स्थानों पर शङ्कराचार्य की, भारत की उपरोक्त वर्णित विशिष्ट दर्शन-पद्धतियों से मत-भिन्नता भी प्रकट होती है। उपदेशसाहस्री में सर्वज्ञ शङ्कर जहाँ पर अन्य सिद्धान्तों से सहमत नहीं होते हैं वहाँ पर वे उसका खण्डन स्पष्ट किन्तु शिष्ट शब्दों में करते हैं। उपदेशसाहस्री में जिन आस्तिक और नास्तिक दर्शन-पद्धतियों का खण्डन शङ्कराचार्य ने किया है उन सभी को, तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त किया जा रहा है -

(i) चार्वाक-दर्शन से मत भिन्नता

(ii) बौद्ध-दर्शन से मत भिन्नता

(iii) जैन-दर्शन से मत भिन्नता

(iv) न्याय-दर्शन से मत भिन्नता

(v) वैशेषिक-दर्शन से मत भिन्नता

(vi) सांख्य-दर्शन से मत भिन्नता

(i) चार्वाक-दर्शन से मत भिन्नता

भारतीय दर्शन की मुख्य प्रवृत्ति आध्यात्मिक है। परन्तु इससे यह अनुमान लगाना कि भारतीय दर्शन पूर्णतः आध्यात्मिक (Spiritual)

है, गलत होगा। भारतीय विचारधारा में अध्यात्मवाद (Spiritualism) के अतिरिक्त जडवाद (Materialism) का भी चित्र देखने को मिलता है। चार्वाक एक जडवादी दर्शन (Materialistic Philosophy) है। जडवाद उस दार्शनिक सिद्धान्त का नाम है जिसके अनुसार भूत ही चरम सत्ता है तथा जिससे चैतन्य अथवा मन का आविर्भाव होता है। भारतीय दर्शन में जड़वाद का एकमात्र उदाहरण चार्वाक ही है। चार्वाक अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। इसकी प्राचीनता इस बात से विदित होती है कि इस दर्शन का संकेत वेद तथा पुराण साहित्य जैसी प्राचीन कृतियों में भी मिलता है। इसके अतिरिक्त चार्वाक की प्राचीनता का एक सबल प्रमाण भारत के अन्य दर्शनों के सिंहावलोकन से भी प्राप्त होता है। चार्वाक का खण्डन भारत के विभिन्न दर्शनों में हुआ है जो कि यह सिद्ध करता है कि इस दर्शन का विकास अन्य दर्शनों से पूर्व अवश्य हुआ होगा। इसी क्रम में उपदेशसाहस्री का अध्ययन करते समय भी, चार्वाक के मत से आचार्य शङ्कर की मत भिन्नता कई स्थानों पर दृष्टिगोचर होती है।

आत्मा भारतीय दर्शन का मुख्य अंग रहा है। भारतीय दर्शन आत्मा की सत्ता में विश्वास करता है परन्तु चार्वाक-दर्शन इस सम्बन्ध में एक अपवाद है। चार्वाक आत्मा का अलग अस्तित्व नहीं मानते हैं। उनके अनुसार चेतन शरीर ही आत्मा है - "चैतन्य

विशिष्टो देह एव आत्मा"। आत्मा और देह के बीच अभेद मानने के फलस्वरूप चार्वाक के आत्मा सम्बन्धी विचारों को "देहात्मवाद" कहा जाता है। चार्वाक ने "देहात्मवाद" अर्थात् आत्मा और शरीर की अभिन्नता को अनेक उदाहरणों से पुष्ट किया है जो कि इस प्रकार हैं –

(अ) व्यावहारिक जीवन में आत्मा और शरीर की अभिन्नता मुनष्य भिन्न-भिन्न उक्तियों से प्रमाणित करता है। "मैं मोटा हूँ", "मैं पतला हूँ" एवं "मैं काला हूँ" आदि उक्तियों से आत्मा और शरीर की एकता परिलक्षित होती है। मोटापन, पतलापन, और कालापन आदि शरीर के ही गुण हैं। अत: आत्मा और शरीर एक ही वस्तु के दो भिन्न-भिन्न नाम हैं।[93]

(ब) आत्मा शरीर से भिन्न नहीं हैं। यदि आत्मा शरीर से भिन्न होती तो मृत्यु के उपरान्त आत्मा का शरीर से पृथककृत रूप दीख पड़ता। किसी व्यक्ति ने मृत्यु के समय आत्मा को शरीर से अलग होते नहीं देखा है। शरीर जब तक जीवित है तब तक आत्मा भी जीवित है। शरीर से अलग आत्मा का अस्तित्व असिद्ध है।

(स) जन्म के पूर्व और मृत्यु के पश्चात् आत्मा का अस्तित्व

---

93. सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह (2 : 7)

मानना निराधार है। जन्म के पश्चात् चेतना का आविर्भाव होता है और मृत्यु के साथ ही उसका अन्त हो जाता है। चेतना का आधार शरीर है। जब चेतना का (जो कि आत्मा का गुण है) अस्तित्व शरीर के अभाव में असम्भव है तो फिर आत्मा को शरीर से भिन्न कैसे माना जाता है? अर्थात् शरीर ही आत्मा है।

चार्वाक के उपरोक्त दर्शन से शङ्कराचार्य सहमत नहीं हैं। इसीलिए उपदेशसाहस्री के पार्थिवप्रकरण में वे कहते हैं कि शरीर में माँस आदि कठिन धातु, पृथ्वी आदि के विकार हैं और रुधिरादि धातु, जल के विकार हैं। इसी प्रकार पाक, चेष्टा तथा अवकाश क्रमशः अग्नि, वायु और आकाश के कार्य हैं। इसलिए पञ्चभूतों का परिणामरूप इस शरीर को आत्मा नहीं कहा जा सकता।[94]

इसी प्रकार चार्वाक का एक सम्प्रदाय इन्द्रियों को आत्मा मानता है उनके अनुसार घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् और श्रवण आदि इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं। शङ्कराचार्य इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि घ्राणादि इन्द्रियाँ और उनके गन्धादि विषय क्रमशः पृथ्वी आदि भूतों के कार्य हैं अर्थात पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश के क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये प्रसिद्ध धर्म हैं। ये घ्राणादि

94. पार्थिवः कठिनो धातुर्द्रवो देहे स्मृतोऽम्मयः।
पक्तिचेष्टावकाशाः स्युर्वह्निवाय्वम्बरोद्भवाः।। (उ.सा. 16/1)

क्रमशः एक-एक इन्द्रिय से ग्राह्य हैं। अर्थात् घ्राणेन्द्रिय से गन्ध, रसनेन्द्रिय से रस, चक्षुर्न्द्रिय से रूप, त्वगिन्द्रय से स्पर्श और श्रवणेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है।[95] इन समस्त प्रपञ्चों का ग्रहीता चेतन आत्मा ही है क्योंकि आत्मा के अभाव में ये इन्द्रियाँ निष्क्रिय एवं निर्जीव हैं। इस प्रकार इन्द्रियों का भौतिकत्व सिद्ध है। अतः यह घट-पटादि के समान अनात्मा ही हैं। शङ्कराचार्य के अनुसार ज्ञानेन्द्रियों के समान वाक, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, जिनके करण क्रमशः वचन, आदान, गमन, विसर्ग और आनन्द हैं, भी आत्मा नहीं हो सकते। इन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय को अपने-अपने विषयों में संयुक्त करने के लिए मन नामक ग्यारहवाँ आभ्यन्तर इन्द्रिय को भी स्वीकार किया गया है। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के समान मन को भी अनात्मा ही समझना चाहिए।[96]

(ii) बौद्ध-दर्शन से मत भिन्नता

बौद्ध-दर्शन भारतवर्ष के प्रख्यात तत्त्वज्ञानीय सम्प्रदायों में एक प्रमुख विचारधारा है। बौद्ध लोग गौतम बुद्ध के अनुयायी हैं। बुद्ध ने अपने सिद्धान्तों का उपदेश छठी शती ई.पू. जनभाषा पालि में

---

95. घ्राणादीनि तदर्थाश्च पृथिव्यादिगुणाः क्रमात्।
रूपालोकवदिष्टं हि सजातीयार्थमिन्द्रियम्।। (उ.सा. 16/2)

96. बुद्ध्यर्थान्याहुरेतानि वाक्पाण्यादीनि कर्मणे।
तद्विकल्पार्थमन्तःस्थं मन एकादशं भवेत्। (उ.सा. 16/3)

दिया था। बौद्धों के धार्मिक साहित्य को 'तिपिटक' (त्रिपिटक) कहा जाता है। इसकी रचना पालि भाषा में हुई है। भगवान तथागत ने बुद्धत्व प्राप्त करने से लेकर परिनिर्वाण प्राप्त करने तक जो कुछ भी कहा है, उसी का संग्रह 'तिपिटक' में किया गया है। तिपिटक के तीन भाग हैं – 'सुत्तपिटक', 'विनयपिटक' तथा 'धम्मपिटक'। 'सुत्तपिटक' अनुशासन समबन्धी संकलन है, 'विनयपिटक' उपदेशात्मक और 'धम्मपिटक' मनोवैज्ञानिक तत्त्वों पर आधारित दर्शन का दुरूह संग्रह है। तिपिटक का संकलन एवं सम्पादन तथागत के अनुयायी भिक्षुओं ने किया था। राजगृह, वैशाली तथा पाटलिपुत्र में आयोजित तीन संगतों में 'तिपिटक' का तीन बार प्रामाणिकता के साथ संकलन हुआ और अन्तिम रूप से वह तृतीय संगत में संकलित हुआ। इस धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त भी बौद्ध साहित्य के अनेक ग्रन्थ पालिभाषा में मिलते हैं। संस्कृत भाषा में रचित बौद्ध ग्रन्थों की संख्या भी नगण्य नहीं है।

उपदेशसाहस्री के पार्थिवप्रकरण में बौद्ध-दर्शन के "शून्यवाद" तथा "क्षणिक विज्ञानवाद" सिद्धान्तों से शङ्कराचार्य की मत भिन्नता प्रकट होती है।

"शून्यवाद" एक विचित्र सिद्धान्त है। इसका एक छोर अनात्मवाद है और दूसरा अभौतिकवाद। शून्यवादी आत्मा का खण्डन करता

है। उनके अनुसार आत्मा की सत्ता कल्पित है।[97] शून्यवादी के मत में संसार का निदान सत्काय दृष्टि है। इस सत्काय दृष्टि का आलम्बन आत्मा है। अतः आत्मा की अनुपलब्धि से सत्काय दृष्टि का विनाश होगा और उसके विनाश से क्लेशों की व्यावृत्ति होगी। आत्मा को शून्यवादी अहंकार का विषय मानता है इसलिए क्लेशमूल अहंकार के परिक्षय के लिए आत्मा निषिध्य है। शून्यवाद के अनुसार जगत् का समस्त भाव निःस्वभाव है। इन भावों के पीछे आत्मा जैसी कोई भी नित्य वस्तु वर्तमान नहीं है। इसीलिए इनकी निःस्वभावता सिद्ध है। यह निःस्वभावता ही शून्यता है। शङ्कराचार्य ने उपदेशसाहस्री में इस "शून्यवाद" का खण्डन करते हुए कहा है कि आत्मा भाव और अभाव दोनों का साक्षी है अतः उसे शून्यरूप नहीं कहा जा सकता।[98] यह बात लोकव्यवहार से भी सिद्ध है कि जो सभी के अभाव को जानता है, वही सत् कहलाता है अन्यथा लोगों को भाव और अभाव का ज्ञान ही नहीं हो पायेगा। यदि अभाव को सत् कहेगें तो स्वानुभवविरोध होगा, क्योंकि सभी को भाव और अभाव का ज्ञान रहता है। इस प्रकार शङ्कराचार्य के अनुसार भाव और अभाव दोनों को जानने वाला सत् आत्मा ही है, शून्य

---

97. बौद्ध-धर्म दर्शन (आचार्य नरेन्द्र देव, पृ. 539)
98. भावाभावज्ञतस्तस्य नाभावस्त्वधिगम्यते। (उ.सा. 16/31)

नहीं।[99] भावाभाव को जानने वाला यह साक्षीस्वरूप आत्मा, सत्, असत् एवं सदसत् के विकल्पस्वरूप जगत् के पूर्व से ही सिद्ध है। सामान्यत: विकल्प किसी आधार पर ही अधिष्ठित होता है, निराधार विकल्प नहीं हो सकता। अर्थात् विकल्परूप दृश्य जगत् के पूर्व वही अद्वैत (आत्मा) वस्तु ही समानरूप से विद्यमान है। उस अद्वैत वस्तु का स्वरूप द्वैत जड़ से विलक्षण है। और वह अविनाशी होने से नित्य एवं असत् से विलक्षण होने के कारण सत् है।[100] इस प्रकार यह आत्मतत्त्व सत्य-ज्ञान-अनन्त-आनन्दरूप है - यह अनुभव से ही सिद्ध होता है। इसके लिए किसी अन्य कारण के अन्वेषण की आवश्यकता नहीं है।

"विज्ञानवाद" बाह्य वस्तु की अनुपस्थिति, क्षणिकवाद (Momentariness) के सिद्धान्त के आधार पर प्रमाणित करता है। वस्तुओं का ज्ञान उत्पत्ति पर ही निर्भर करता है। परन्तु ज्यों ही वस्तु की उत्पत्ति होती है त्यों ही उसका नाश हो जाता है। अत: वस्तु का ज्ञान तभी हो सकता है जब एक ही क्षण में वस्तु और उसका ज्ञान दोनों हो जाये। परन्तु वस्तु ज्ञान का कारण है और ज्ञान कार्य है और सामान्यत: कारण और कार्य दोनों एक ही समय में नहीं

---

99. येनाधिगम्यतेऽभावस्तत्सत्स्यात्तन्न चेद्भवेत्।
भावाभावानभिज्ञत्वं लोकस्य स्यान्न चेष्यते।। (उ.सा. 16/32)

100. सदसत्सदसच्चेति विकल्पात्प्राग्यदिष्यते।
तदद्वैतं समत्वात्तु नित्यं चान्यद्विकल्पितात्। (उ.सा. 16/33)

हो सकते। कारण का आगमन सदा कार्य के पूर्व होता है। ज्यों ही वस्तु का निर्माण होता है त्यों ही उसका नाश हो जाता है। अत: बाह्य वस्तुओं का ज्ञान असम्भव है। विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार ''सर्वं क्षणिकम्'' अर्थात् सभी पदार्थ क्षणिक विज्ञानमात्र हैं। विषयों के समान उनका ज्ञाता आत्मा भी क्षणिक है। जैसे दीपशिखा या नदी का प्रवाह प्रतिक्षण नवीन उत्पन्न होता हुआ भी पूर्व सदृश होने के कारण उसकी प्रत्यभिज्ञा होती है, वैसे ही दृश्यमान वस्तु भी पूर्वसदृश होने के कारण स्थायी-सी प्रतीत होती है। उसमें स्थायित्व-बुद्धि की निवृत्ति ही विवेक है और वही मोक्षरूप परम पुरुषार्थ है।[101]

शङ्कराचार्य ने उपदेशसाहस्री में बौद्धों के उपरोक्त क्षणिक विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए कहा है कि यदि क्षणिक विज्ञान मात्र ही सत्य है तो उस विज्ञान या बुद्धि का कोई आधार (साक्षी) न होने से पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती ज्ञान की तुल्यता का भी कोई हेतु नहीं है। अत: वह तुल्यता निर्निमित्त ही है, क्योंकि पूर्वक्षण और उत्तरवर्तीक्षण दोनों ज्ञानों में सादृश्यनिरूपक कोई नहीं है। सामान्यत: सादृश्य के व्यवहार में निमित्त गुण या अवयव होता है, विज्ञान में इनका होना असंभव है। क्योंकि विज्ञान तो निर्गुण और निरवयव

---

101. क्षणिकं हि तदत्यर्थं धर्ममात्रं निरन्तरम्।
सादृश्याद्दीपवत्तद्धीस्तच्छान्तिः पुरुषार्थता।। (उ.सा. 16/23)

रहता है। अतः पूर्वोत्तर क्षणो में किसी एक द्रष्टा के विद्यमान न रहने से सादृश्य सिद्ध नहीं हो सकेगा। फलस्वरूप इन विपत्तियों से बचने के लिए यदि पूर्वापरक्षण सादृश्य के किसी स्थायी द्रष्टा को स्वीकार करेगें तो क्षणिकत्व के सिद्धान्त की हानि होगी जो विज्ञानवादी को स्वीकार्य नहीं है।[102]

इसके अतिरिक्त विज्ञानवादी के अनुसार पदार्थों का कार्य-कारण भाव भी नहीं बन सकता। यदि विज्ञानवादी यह कहें कि कार्य और कारण में अत्यन्त भेद होने पर भी उनमें सन्तति-क्रम होने के कारण उन्हें एक-दूसरे की अपेक्षा हो सकती है तो ठीक नहीं है क्योंकि जैसे दधिसन्ततिक्रम के कारणरुप से दुग्धसन्ततिक्रम की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार बालुकादि अन्य सन्ततिक्रम से भी दधि की उत्पत्ति होनी चाहिए जबकि ऐसा होता नहीं है। यदि विज्ञानवादी यह कहें कि पदार्थों के क्षणिक होने पर भी किसी-किसी कार्य में ही किसी विशेष पदार्थ की आवश्यकता होती है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि क्षणिक होने के कारण एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ की अपेक्षा ही नहीं होगी।[103]

---

102. आधारस्याप्यसत्त्वाच्च तुल्यतानिर्निमित्ततः।
स्थाने वा क्षणिकत्वस्य हानं स्यान्न तदिष्यते।। (उ.सा. 16/26)

103. अपेक्षा यदि भिन्नेऽपि परसंतान इष्यताम्।
सर्वार्थे क्षणिके कस्मिंस्तथाप्यन्यानपेक्षता।। (उ.सा. 16/28)

इस प्रकार क्षणिक मत का निराकरण करते हुए शङ्कर कहते हैं कि वेदान्त सिद्धान्त में जहाँ कर्त्तृत्व-भोक्त्तृत्व आदि का मिथ्या अध्यास होता है वहीं 'मै ब्रह्म हूँ', इस बोध से उस अध्यास का नाश होता है। अधिष्ठानभूत ब्रह्म का कभी नाश नहीं होता जैसा कि क्षणिक विज्ञानवाद के मत में हर क्षण वस्तु उत्पन्न और नष्ट होती रहती है। एवञ्च किसी स्थायी द्रष्टा के अभाव में मोक्ष रूप फल की प्राप्ति असम्भव है।[104]

(iii) जैन-दर्शन से मत भिन्नता

जिस समय भारत में बौद्ध-दर्शन का विकास हो रहा था उसी समय यहाँ जैन-दर्शन भी विकसित हो रहा था। दोनों दर्शनों का समय छठीं शताब्दी ही माना जाता है। जैन मत के संस्थापक के विषय में विचार करने पर चौबीस तीर्थंकरों की एक लम्बी परम्परा हमारे समक्ष उपस्थित होती है। ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे और महावीर अन्तिम तीर्थंकर थे। जैन मत के विकास और प्रचार का श्रेय अन्तिम तीर्थंकर महावीर को ही दिया जाता है वस्तुतः इन्होंने ही जैन-दर्शन को पुष्पित एवं पल्लवित किया। इनके अभाव में सम्भवतः जैन मत की रूपरेखा अविकसित ही रहती। जैन मत

104. मृषाध्यासस्तु यत्र यस्यात्तन्नाशस्तत्र नो मतः।
सर्वनाशो भवेद्यस्य मोक्षः कस्य फलं वद।। (उ.सा. 16/30)

मुख्यतः महावीर के उपदेशों पर ही आधारित है। जैन मत में जीव, अजीव, आस्रव, संवर, विर्जर, बन्ध तथा मोक्ष यह सात पदार्थ अभिमत हैं। इसके अतिरिक्त जैन दार्शनिक जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एवं आकाशास्तिकाय इन पाँच अस्तिकायों को भी स्वीकार करते हैं।

उपदेशसाहस्री के पार्थिवप्रकरण में जैन-दर्शन के ''अनेकान्तवाद'' तथा ''अस्तिकायवाद'' विचारों से शङ्कराचार्य की मत भिन्नता प्रकट होती है।

''अनेकान्तवाद'' जैन-दर्शन के तत्त्वशास्त्र से जुड़ा हुआ है। जैन अपने को अनेकान्तवाद का समर्थक चित्रित करते हैं जबकि अन्य दर्शनों को वे एकान्तवाद का समर्थक घोषित करते हैं। अनेकान्तवाद के अनुसार इस लोक में अनेक वस्तुयें हैं तथा इनमें से प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म हैं अर्थात् - ''अनन्त धर्मकम् वस्तु''। जैनों के अनुसार वस्तुओं के अनन्त गुणों में कुछ गुण नित्य अर्थात् स्थायी हैं तथा कुछ गुण अनित्य अर्थात् अस्थायी हैं। नित्य गुण वे हैं जो वस्तुओं में निरन्तर विद्यमान रहते हैं इसके विपरीत अनित्य गुण वे हैं जो निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं। शङ्कराचार्य जैन-दर्शन के इस मत का खण्डन करते हुए कहते है कि एक परमार्थ रूप

वस्तु में अनेक विरुद्ध धर्मों का एक साथ रहना सम्भव नहीं हो सकता। अर्थात् एक ही धर्मी में शीतोष्ण के समान सत्त्व और असत्त्वादि विरुद्ध धर्मों का समावेश संभव नहीं है। क्योंकि ऐसा होने पर इस सिद्धान्त के अनुसार परिकल्पित जीवादि सात पदार्थ उसी प्रकार के हैं भी और नहीं भी ऐसा अनिर्धारित ज्ञान 'स्थाणुर्वा पुरुषोवा' रूप संशय ज्ञान की भाँति अप्रमाणित ही होगा।

जैन-दर्शन का "अस्तिकायवाद" आत्मा को देह परिणाम वाला मानता है। इस सिद्धान्त को प्रकाश के उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। प्रकाश का कोई आकार नहीं होता फिर भी जिस कमरे को वह आलोकित करता है उसके आकार के अनुसार प्रकाश का भी कुछ-न-कुछ आकार अवश्य हो जाता है। आत्मा भी प्रकाश की तरह जिस शरीर में निवास करता है, उसके आकार के अनुसार आकार ग्रहण कर लेता है। शरीर के आकार में अन्तर होने के कारण आत्मा के भी भिन्न-भिन्न आकार हो जाते हैं। हाथी में निवास करने वाला आत्मा बृहत् रूप है। इसके विपरीत चींटी में व्याप्त आत्मा का रूप सूक्ष्म है। शङ्कराचार्य के अनुसार यह ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियों की दृष्टि अपने-अपने गोलकों से परिच्छिन्न है और वे इन्द्रियाँ देह में ही होती हैं देह के बाहर नहीं।[105]

---

105. स्थानावच्छेददृष्टिः स्यादिन्द्रियाणां तदात्मताम्।
गता धीस्तां हि पश्यन् ज्ञो देहमात्र इवेक्ष्यते।। (उ.सा. 16/22)

अतः त्वगादि इन्द्रियों सहित देह के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुई बुद्धि भी देहपरिमाण की हो जाती है। उसे देखने वाला आत्मा, अपरिच्छिन्न रहने पर भी देहपरिमाण का - सा भ्रमवश दिखाई पड़ता है। वस्तुतः आत्मा देहपरिमाण नहीं है फिर भी यदि जैन दार्शनिक उसे देहपरिमाण मानते हैं तो आत्मा भी घटादि के समान अनित्य हो जायेगा, क्योंकि प्रत्येक जीव शरीर का परिमाण अनिश्चित होने से मनुष्य परिमाण प्राप्त करने के बाद कर्मविपाकवशात् हस्ति जन्म प्राप्त होने पर सम्पूर्ण हस्ति शरीर को व्याप्त न कर सकेगा। फलस्वरूप सम्पूर्ण शरीर के सुख-दुःखादि का वह अनुभव भी नहीं कर सकेगा। इसी प्रकार चीटीं होने पर, चीटीं के शरीर में नहीं समायेगा। एक ही जन्म की बाल, यौवनादि अवस्थाओं में भी यही दोष प्रसक्त होने के कारण आत्मा को देहपरिमाण वाला मानना ठीक नहीं है। इस प्रकार आत्मा को विभुपरिमाण (सर्वव्यापक) ही मानना चाहिए क्योंकि वह स्वरूपतः अनन्त है। उसमें जो परिच्छिन्नता की प्रतीति होती है वह औपाधिक है, वास्तविक नहीं ।

(iv) न्याय-दर्शन से मत भिन्नता

आस्तिक दर्शनों के क्रम में सर्वप्रथम न्याय-दर्शन की गणना की जाती है। न्याय शब्द की व्युत्पत्ति नि+आ ✓ इ से हुयी है

जिसका अर्थ होता है भीतर घुसकर परीक्षण करना। अर्थात् विभिन्न प्रमाणों की सहायता से वस्तुतत्त्व की परीक्षा करना न्याय कहलाता है।[106] गौतम ने न्याय सूत्रों की रचना की और वात्स्यायन ने सूत्रों पर न्यायभाष्य लिखकर सूत्रों के दुरूह अर्थों को बोधगम्य बनाया। न्याय-दर्शन के प्रथम सूत्र में कहा गया है - ''प्रमाण - प्रमेय - संशय - प्रयोजन - दृष्टान्त - सिद्धान्त - अवयव - तर्क - निर्णय - वाद - जल्प - वितण्डा - हेत्वाभास -च्छल - जाति - निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।[107] इन षोडश तत्त्वों के ज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति, मिथ्याज्ञान निवृत्ति से रागद्वेषादि की निवृत्ति, रागद्वेषादिनिवृत्ति से धर्माधर्मरूप प्रवृत्ति की निवृत्ति, प्रवृत्ति-निवृत्ति से पुनर्जन्मनिवृत्ति और पुनर्जन्म की निवृत्ति से समस्त कलेशों की आत्यान्तिकनिवृतिरूप मुक्ति की प्राप्ति होती है।

न्याय के मतानुसार आत्मा एक द्रव्य है। सुख-दुःख, राग-द्वेष, इच्छा, प्रयत्न और ज्ञान आत्मा के गुण हैं। आत्माओं की संख्या अनन्त है। प्रत्येक शरीर में एक भिन्न आत्मा का निवास है। प्रत्येक आत्मा के साथ एक मनस् रहता है। मोक्ष की अवस्था में यह आत्मा से अलग हो जाता है जबकि बन्धन की अवस्था में यह निरन्तर आत्मा के साथ रहता है। इस प्रकार न्याय-दर्शन जीवात्मा

---

106. प्रमाणैरर्थ परीक्षणं न्यायः (वात्स्यायन न्यायभाष्य 1/1/1)
107. न्यायदर्शन (1/1)

को अनेक मानकर "अनेकात्मवाद" के सिद्धान्त को अपनाता है। इसके विपरीत शङ्कर ने आत्मा को एक मानकर "एकात्मवाद" के सिद्धान्त को अपनाया है। इसीलिए उपदेशसाहस्री के पार्थिवप्रकरण में वे नैयायिकों के इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि आत्मा को इच्छादिगुण विशिष्ट और अनेक मानना ठीक नहीं है।[108] क्योंकि ज्ञान, प्रयत्न, इच्छा, द्वेषादि अनेक गुणों के कारण अनेकात्मता होने से किसी अंश से विशिष्ट हुए आत्मा में ग्राह्यत्व और अन्य किसी अंश से विशिष्ट हुए उसी आत्मा में ग्राहकत्व भी हो सकता है जो आत्मा को उभयरूप बना देता है, जबकि वस्तुतः आत्मा केवल ग्राहक ही है ग्राह्य नहीं। श्रुति ने भी आत्मा को ज्ञानैकस्वभाव, विज्ञानघन[109] कहकर उसे एकरूप ही बताया है अनेकरूप नहीं। अतः आत्मा केवल ग्राहक ही है वह ग्राह्य कभी नहीं हो सकता। यदि नैयायिक आत्मा में अंशभेद स्वीकार करके उसे किसी अंश का गृहीता और किसी को उसका ग्राहक कहते हैं तो सर्वप्रथम यह प्रश्न उपस्थित होगा कि उसका ग्राह्य अंश जड़ है या चेतन? यदि चेतन है तो वह किसी का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि चेतन तो प्रकाशक ही होता है प्रकाश्य नहीं। यदि उसे (ग्राह्य अंश को) जड़ कहें तो प्रकाश और अन्धकार के समान चेतन और जड़

---

108. ज्ञानयत्नाद्यनेकत्वमात्मनोऽपि मतं यदि।
नैकज्ञानगुणत्वात्तु ज्योतिर्वत्तस्य कर्मता।। (उ.सा. 16/11)

109. मु.उ. (2/2/9)

ये दो अत्यन्त विरुद्ध धर्म एक ही आत्मा में नहीं रह सकते। जिस प्रकार सूर्यादि ज्योर्तिमय पदार्थ प्रकाशक होने पर भी अपने को प्रकाश्यरूप में प्रकाशित नहीं करते, उसी प्रकार आत्मा में अंशभेद स्वीकार करने पर भी चिन्मात्र रूप से उसमें समानता होने से वह अपने को ही नहीं देख सकता। इस प्रकार आत्मा में अंशभेद की कल्पना करके स्वयं को ही ग्राह्य-ग्राहकरूप मानना सर्वथा युक्ति विरुद्ध है।[110]

(V) वैशेषिक-दर्शन से मत भिन्नता

भारतीय विचारधारा में वैशेषिक-दर्शन आस्तिक दर्शन के अन्तर्गत आता है। इस दर्शन का प्रणेता "कणाद ऋषि" को ठहराया जाता है। ये रास्ते में गिरे हुए अन्न-कणों को चुनकर अपनी जीविका चलाते थे। इनके कणाद (कण+अद् या भक्ष = खाना) नाम पड़ने का यही रहस्य है।[111] विशेष नामक पदार्थ को प्रमुखता देने के कारण इनके दर्शन का नाम वैशेषिक पड़ा। वैशेषिक-दर्शन का विकास 300 ई.पू. माना जाता है। न्याय और वैशेषिक दोनों दर्शनों में इतनी अधिक साम्यता है कि दोनों को "न्याय-वैशेषिक" का संयुक्त नाम भी दिया जाता है। भारतीय दर्शन के इतिहास में इन दोनों

---

110. ज्योतिषो द्योतकत्वेऽपि यद्वन्नात्मप्रकाशनम्।
भेदेऽप्येवं समत्वाज्ज्ञ आत्मानं नैव पश्यति।। (उ.सा. 16/12)

111. सर्वदर्शनसंग्रह (पृ. 337)

दर्शनों को समान-तन्त्र (Allied Systems) कहकर इनके सम्बन्ध को स्पष्ट किया जाता है। दोनों दर्शन एक दूसरे पर निर्भर हैं। एक के अभाव में दूसरे की व्याख्या करना संभव नहीं है।

वैशेषिक-दर्शन में आत्मा की चर्चा पूर्ण रूप से नहीं हुयी है। इसका कारण यह है कि न्याय का आत्मविचार वैशेषिक को पूर्णतः मान्य है। न्याय की भाँति वैशेषिक मतानुसार ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म इत्यादि आत्मा के विशेष गुण हैं। जीवात्मा अनेक हैं। जितने शरीर हैं, उतनी ही जीवात्मा होती हैं। प्रत्येक जीवात्मा के अन्दर मन का निवास होता है, जिसके कारण इनकी विशिष्टता विद्यमान रहती है। आत्मा की अनेकता को वैशेषिक ने जीवात्माओं की अवस्थाओं में भिन्नता के आधार पर सिद्ध किया है। कुछ जीवात्मायें सुखी हैं, कुछ दुःखी हैं, कुछ धनवान् हैं, कुछ निर्धन हैं। ये अवस्थायें अनेक आत्माओं को प्रस्तावित करती हैं। वैशेषिक-दर्शन के इस मत से शङ्कराचार्य सहमत नहीं हैं। वे उपदेशसाहस्री के पार्थिवप्रकरण में कहते हैं कि वैशेषिक लोग आत्मा को सुख-दुःख, ज्ञान आदि गुणों से विशिष्ट मानते हैं, यह ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार अग्नि का उष्णत्व उसके प्रकाश से प्रकाशित नहीं होता, उसी प्रकार वैशेषिक दार्शनिकों के अनुसार एक ही आश्रय में स्थित रहने के कारण आत्मगत ज्ञान से उसके आनन्दादि गुणों को ग्रहण

नहीं किया जा सकता।[112] इसके अतिरिक्त आत्मा के साथ सुख और ज्ञान का समवाय सम्बन्ध होना भी उचित नहीं है क्योंकि वैशेषिकों के अनुसार ज्ञान और सुखादि का असमवायिकारण आत्म-मनः संयोग है और वह आत्म-मनः संयोगरूप असमवायिकारण आत्मा के केवल एक ही गुण के कारण होता है। अतः जिस समय सुखनिमित्तक आत्म-मनः संयोग होगा उस समय ज्ञाननिमित्तक संयोग न होने के कारण सुख का ज्ञान नहीं हो सकता और सुख के असमवायिकारणरूप उस मनः संयोग का नाश होने पर सुख का भी नाश हो जायेगा। अतएव किसी भी प्रकार सुख का ग्राह्यत्व नहीं बन पाता है।[113] जिस प्रकार आत्मा में ज्ञान और सुख की युगपत् उत्पत्ति न होने से उनमें ग्राह्य-ग्राहकत्व दोनों की अनुपपत्ति होती है उसी प्रकार परस्पर भिन्न होने के कारण दुःख, इच्छा, प्रयत्नादि गुणों का भी एक साथ उद्भव होना संभव नहीं है। क्योंकि एक आत्म-मनः संयोग से अनेक कार्यों का होना संभव नहीं है। इस प्रकार यह सुखादि आत्मा के गुण न होकर आत्मा के विषय हैं और आत्मा उनका साक्षी है।[114]

---

112. न प्रकाश्यं यथोष्णत्वं ज्ञानेनैवं सुखादयः।
एकनीडत्वतोऽग्राह्याः स्युः कणादादिवर्त्मनाम्।। (उ.सा. 16/51)

113. युगपत्समवेतत्वं सुखविज्ञानयोरपि।
मनोयोगैकहेतुत्वादग्राह्यत्वं सुखस्य च।। (उ.सा. 16/52)

114. तथाऽन्येषां च भिन्नत्वाद्युगपज्जन्म नेष्यते।
गुणानां समवेतत्वं ज्ञानं चेन्न विशेषणात्।। (उ.सा. 16/53)

इसके अतिरिक्त वैशेषिक एक ज्ञान को दूसरे ज्ञान का विषय स्वीकार करते हैं। शङ्कराचार्य के अनुसार अनवस्थादोष आ जाने के कारण यह उचित नहीं है। यदि वैशेषिक यह कहे कि प्रत्येक ज्ञान किसी पूर्ववर्ती ज्ञान की अपेक्षा से ही होता है तो भी अनवस्था दोष उपस्थित होगा। इसलिए ज्ञान को ज्ञानान्तर का विषय मानना उचित नहीं है। यदि वैशेषिक समस्त ज्ञानों को एक ही आत्म-मन: संयोग से उत्पन्न हुआ कहेंगे तो शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि सभी ज्ञान एक साथ (युगपत्) होने लगेंगे जो कि अनुचित है।[115] अत: आत्मा में कोई अवस्थान्तर नहीं होता है, क्योंकि वह कूटस्थ है इसलिए उसमें विशेषगुणवत्त्वरूप बन्ध नहीं है और बन्धनिवृत्तिरूप मोक्ष भी नहीं है।

(vi) सांख्य-दर्शन से मत भिन्नता

सांख्य-दर्शन भारत का अत्यधिक प्राचीन दर्शन कहा जाता है। यह दर्शन प्राचीन होने के साथ-ही-साथ मुख्य दर्शन भी है। यह सत्य है कि भारतवर्ष में जितने दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हुआ उनमें वेदान्त सबसे प्रधान है। परन्तु वेदान्त-दर्शन के बाद यहाँ का दूसरा महत्त्वपूर्ण दर्शन सांख्य ही है। यदि वेदान्त को प्रधान दर्शन

---

115. स्यान्मालाऽपरिहार्या तु ज्ञान चेज्ज्ञेयतां व्रजेत्।
युगपद्वापि चोत्पत्तिरभ्युपेताऽत इष्यते।। (उ.सा. 16/56)

कहें तो सांख्य को उप-प्रधान दर्शन कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। सांख्य-दर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल माने जाते हैं। इनकी विशिष्टता का जीता-जागता उदाहरण हमें वहाँ देखने को मिलता है जहाँ कृष्ण ने भगवद्गीता में कपिल को अपनी विभूतियों में गिनाया है - "सिद्धानां कपिलो मुनिः" अर्थात् मैं सिद्धों में कपिल मुनि हूँ।

सांख्य-दर्शन द्वैतवाद का समर्थक है। द्वैतवाद उस तत्त्वशास्त्रीय सिद्धान्त को कहते हैं जो दो प्रकार के तत्त्वों की सत्ता में विश्वास करता है। सांख्य के दो प्रकार के तत्त्व हैं - प्रकृति और पुरुष। इनमें प्रकृति सक्रिय है जबकि पुरुष निष्क्रिय है। सांख्य मत में प्रकृति को प्रधान कहा गया है क्योंकि वह विश्व का प्रथम कारण है तथा विश्व की समस्त वस्तुयें प्रकृति पर आश्रित हैं। जिस सत्ता को अधिकांशतः भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा कहा है उसी सत्ता को सांख्य ने पुरुष की संज्ञा से विभूषित किया है। इस प्रकार पुरुष और आत्मा एक ही तत्त्व के दो विभिन्न नाम है। सांख्य मतानुसार पुरुष और प्रकृति के संयोग से सम्पूर्ण विश्व निर्मित होता है। पुरुष का प्रकृति से संयोग होने के फलस्वरूप ही प्रकृति की साम्यावस्था टूटती है जिससे विकास की क्रिया का शुभारम्भ हो जाता है। किन्तु सांख्य-दर्शन के इस "विकासवाद" से शङ्कराचार्य

सहमत नहीं है। उपदेशसाहस्री के पार्थिवप्रकरण में वे कहते हैं कि सांख्यशास्त्र में पुरुष को निर्विकार कहा गया है अतः उसे प्रकृति (प्रधान) का पारार्थ्य बताना उचित नहीं है। यदि पुरुष को यथाकथञ्चित सविकार भी कहा जाये तो भी उसे प्रधान का परार्थ होना सिद्ध नहीं किया जा सकेगा।[116] वे पुनः कहते हैं कि प्रकृति और पुरुष दोनों का परस्पर सम्बन्ध न हो सकने से और प्रकृति के जड़ होने से उसका पुरुष के लिये परार्थ होना कभी संभव नहीं है।[117] इस प्रकार शङ्कराचार्य के लिये सांख्यमत अनुपपन्न है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि शङ्कराचार्य ने उपदेशसाहस्री में विशिष्ट भारतीय दर्शन-पद्धतियों का समावेश करके एवं उनसे अपने मतान्तर प्रकट करके, अपनी अध्ययनशीलता एवं व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया है।

★★★★

116. प्रधानस्य च पारार्थ्यं पुरुषस्याविकारतः।
न युक्तं सांख्यशास्त्रेऽपि विकारेऽपि न युज्यते।। (उ.सा. 16/48)

117. सम्बन्धानुपपत्तेश्च प्रकृतेः पुरुषस्य च।
मिथोऽयुक्तं तदर्थत्वं प्रधानस्याचितित्वतः।। (उ.सा. 16/49)

卐 षष्ठ अध्याय 卐

उपसंहार

उपसंहार

दर्शनशास्त्र मानव समाज की विकासमान भावना का व्यक्त रूप है और दार्शनिक विद्वान इसकी वाणी हैं। दर्शनशास्त्र का कार्य जीवन को व्यवस्थित करना और कर्म के लिए उचित मार्ग का प्रदर्शन करना है। यदि दर्शनपद्धति सजीव हो तो जनसाधारण के जीवन तथा दर्शन में दूरी का अन्तर नहीं रहता। महान विचारक सभी महत्त्वपूर्ण युगों में प्रकट होते हैं, जहाँ वे अपने युगों की उपज हैं वहीं वे उक्त युगों के निर्माणकर्त्ता भी हैं। उनकी प्रतिभा अपने युग की ऐसी मूक आकांक्षाओं को, जो एक दीर्घकाल से मानव के हृदयों में बाह्यरूप में प्रकट होने के लिए संघर्ष कर रही होती हैं, वाणी प्रदान करने में निहित रहती है। एक प्रथम श्रेणी के विचारक के रूप में शङ्कराचार्य ने सातवीं शताब्दी के ऐसे समय में भारतीय दार्शनिक आकाश में प्रवेश किया जबकि हिन्दू समाज के इतिहास का संकटकाल चल रहा था। परस्पर वाक्कलह में पड़े हुए सम्प्रदायों के कारण जनता हीनता एवं थकावट का अनुभव कर रही थी। समय को एक ऐसे धार्मिक प्रतिभा सम्पन्न युवक की आवश्यकता थी जो राष्ट्र के भूतकाल के साथ सम्बन्ध तोड़े बिना नवीन मतों के उत्तम प्रभावों को ग्रहण कर सके, पुराने ढाँचों को भंग किये बिना उनका सुधारात्मक विकास कर सके और परस्पर

युद्ध के लिए उद्यत सम्प्रदायों में सत्य के उदार आधार पर समन्वय स्थापित कर सके। शङ्कर ने समय की इस आवश्यकता को पूर्ण किया तथा अपने "अद्वैत-वेदान्त" की घोषणा, धार्मिक एकता को सम्पन्न कराने वाले एक समान आधार के रूप में की।

शङ्कर के दर्शन की महत्ता को भारतीय तथा विदेशी सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में "उनका दर्शन सम्पूर्ण रूप में उपस्थित है जिसमें न किसी पूर्व की आवश्यकता है और न अपर की.......... चाहे हम सहमत हों अथवा नहीं उनके मस्तिष्क का प्रकाश हमें प्रभावित किये बिना नहीं छोड़ता।"[1] डॉ. दास गुप्ता ने कहा है "शङ्कर के द्वारा प्रस्थापित दर्शन का प्रभाव इतना व्यापक है कि जब भी हम वेदान्त की चर्चा करते हैं हमारा तात्पर्य उस दर्शन से होता है जो शङ्कर के द्वारा मंडित किया गया है।"[2] पाश्चात्य दार्शनिक चार्ल्स इलियट का कहना है "शङ्कर का दर्शन संगति, पूर्णता और गाम्भीर्य में भारतीय दर्शन में सर्वप्रथम है।"[3] थिबोत, जिस पर शङ्कर के प्रति पक्षपात करने का कोई भी लांछन नहीं लगाया जा सकता, शङ्कर के दर्शन के विषय में इस प्रकार कहता है: "शङ्कर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त

---

1. Indian Philosophy, Vol. II (page 446-447)
2. History of Indian Philosophy, Vol. II (page 429)
3. Hinduism and Buddhism, Vol.II (page 208)

विशुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण से, सब प्रकार के धर्मतत्त्व सम्बन्धी विचारों के अतिरिक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं रोचक हैं। यह दर्शन भारत की भूमि में उपजा है। वेदान्त के उन रूपों में से जो शङ्कर के मत से भिन्न दिशा में जाते हैं अथवा वेदान्त विपरीत दर्शनों में से कोई भी, जहाँ तक साहस, गाम्भीर्य तथा कल्पना की सूक्ष्मता का सम्बन्ध है, शाङ्कर वेदान्त की तुलना में नहीं ठहर सकते।''[4]

शङ्कराचार्य के अन्य ग्रन्थों की भाँति ही ''उपदेशसाहस्री'' का अध्ययन करते समय भी पाठक के मन में इस प्रकार का भाव उत्पन्न होता है कि वह एक ऐसे मस्तिष्क के सम्पर्क में आ गया है जो अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ गहरायी में जाने वाला तथा अगाध आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण है। सरल, सुबोध एवं गद्य-पद्य दोनों विधाओं के प्रयोग से उपरोक्त ग्रन्थ का आद्योपाँत ज्ञान से परिपूर्ण है। इस ग्रन्थ में शङ्कराचार्य ने वैसे तो मानव कल्याण के लिए अनेक विषयों जैसे कि आत्मा, अविद्या, जीव, जगत् तथा मोक्ष का प्रतिपादन किया है परन्तु ग्रन्थ के गहन अनुशीलन से निष्कर्ष निकलता है कि उनका मुख्य उद्देश्य सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही प्रतिपादन करना रहा है। उन्होंने सभी विषयों को अन्ततः ब्रह्म में ही अन्तर्भूत कर दिया है। उनकी दृष्टि में ब्रह्म का विचार शरीर में स्थित चेतना

---

4. Introduction to Brahmasutra, (page 14)

से आरम्भ होता है एवं सर्वशरीररूप में स्थित ब्रह्मरूप की प्राप्ति में समाप्त होता है। सर्वज्ञ शङ्कर ब्रह्म को ही लक्ष्य स्वीकारते हैं जो सोपाधिक एवं निरुपाधिक दोनों रूपों से उनका प्रतिपाद्य है। यह ब्रह्म साधक की तात्त्विक वास्तविकता है। निर्विशेष ब्रह्म का ज्ञेयार्थ निरूपण एवं सविशेष ब्रह्म का ध्यान करने के लिए श्रुतियों एवं स्मृतियों को उद्धरण के रूप में प्रयुक्त किया गया है।

ब्रह्म की चेतनता श्रुति बताती है परन्तु चेतनता क्या है, यह तो जीव को अपने स्वरूप में ही अनुभूत है। जीव को स्वयं के वास्तविक स्वरूप का विवेक होने पर ब्रह्म से अभिन्नता का अनुभव होता है। यदि ब्रह्म जीव से अभिन्न रूप न हो तो सदा ही परोक्ष रहेगा और ब्रह्म साक्षात्कार असम्भव हो जायेगा। अतः जीव ही, जो चेतनता का एकमात्र अपरोक्ष रूप है, ब्रह्म परोक्षता का स्थल हो सकता है। जीव की उपाधियों से ही वह जीव है अन्यथा ब्रह्म ही है।

आचार्य के उपदेशों के अनुशीलन से यह भी अनुभव होता है कि विश्व की अनन्त उलझनों के विषयों में उनकी पकड़ कितनी गहरी है। उनका मानना है कि आत्मज्ञान के बिना मानव के समग्र प्रयत्न निरर्थक हो जायेंगे। सामान्यतः मानव अनुकूल की प्राप्ति के

निमित्त प्रवृत्त होता है व प्रतिकूल से निवृत्त, परन्तु धीरे-धीरे समझ में आता है कि इससे तृष्णा सर्वथा शान्त नहीं होती। कर्ममात्र निश्चित लक्ष्य को पूरा करने में पर्याप्त नहीं हैं। जब तक अपने तात्त्विक रूप का पता न लगे सारे प्रयोजन अनिर्णीत ही रहेंगे। उनकी मान्यता है कि आत्मा का मौलिक तत्त्व चैतन्य है क्योंकि वह सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। उदाहरण स्वरूप ''मैं मोटा हूँ'' में शरीर के रूप में आत्मा का चैतन्य है। ''मैं अन्धा हूँ'' में इन्द्रिय के रूप में आत्मा का चैतन्य है। इसी प्रकार जाग्रत अवस्था में व्यक्ति को बाह्य जगत् की चेतना रहती है, स्वप्नावस्था में आभ्यन्तर विषयों की चेतना रहती है, सुषुप्तावस्था में यद्यपि बाह्य और आभ्यन्तर विषयों की चेतना नहीं रहती, फिर भी किसी न किसी रूप में चेतना अवश्य रहती है। तभी तो कहा जाता है कि ''मैं खूब आराम से सोया।'' कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति की तीनों अवस्थाओं में चैतन्य विद्यमान है तथा इसे आत्मा के मौलिक तत्त्व के साथ ही साथ स्थायी तत्त्व भी माना जा सकता है। शङ्कर का आकलन है कि आत्मा का यह मौलिक एवं स्थायी तत्त्व ब्रह्म ही है। आत्मा व ब्रह्म एक ही वस्तु के दो विभिन्न नाम है।

शङ्कर ने अपने भ्रम विषयक मत का भी विस्तारपूर्वक विवेचन

किया है तथा जगत् की व्याख्या भ्रमात्मक अनुभव के आधार पर की है। भ्रम का कारण उन्होंने अज्ञान बताया है। अनेक सटीक उदाहरणों के द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है - जिस प्रकार अन्धकार में हम रस्सी को साँप समझ लेते है तथा रस्सी का यथार्थ रूप ढक जाता है उसी प्रकार अज्ञान के कारण ब्रह्म का यथार्थ रूप छिप जाता है तथा ब्रह्म के स्थान पर जगत् आरोपित होता है। अर्थात् अज्ञान के फलस्वरूप ही व्यक्ति से ब्रह्म का स्वरूप आच्छादित हो जाता है तथा उसके स्थान पर जगत् की प्रतीति होती है। शङ्कर के मतानुसार भ्रम में जो पदार्थ दिखायी दे, उसे न सत् कहा जा सकता है और न असत्, उसे दोनों अर्थात् सत् और असत् भी नहीं कहा जा सकता है। इसीलिये वे जगत् के लिए अनिवर्चनीय शब्द का प्रयोग करते हैं। यहाँ पर यह कहना प्रासंगिक होगा कि शङ्कर ने रज्जु-सर्प तथा जगत् को मिथ्या तो घोषित किया है परन्तु दोनों के भेद की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। उन्होंने रज्जु-सर्प को प्रातिभासिक सत्ता के अन्तर्गत रखा है जबकि जगत् को व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत रखा है। रज्जु-सर्प व्यक्तिगत भ्रम है जबकि जगत् सर्वमान्य भ्रम है। रज्जु-सर्प का बाध वस्तु विशेष के ज्ञान से संभव होता है, जबकि जगत् का बाध ब्रह्म के ज्ञान से ही संभव है।

उपदेशसाहस्री में ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता के साथ-ही-साथ उसके परिणाम तथा माध्यम का विवरण भी प्राप्त होता है। ब्रह्मज्ञान का वास्तविक फल सद्योमुक्ति माना गया है। मुमुक्षा की तीव्रता में ज्ञानयोग की सफलता छिपी रहती है। ज्ञान ही सीधा अज्ञाननाशक होने से मोक्ष का एकमात्र साक्षात् कारण हो सकता है। अन्य साधन तो ज्ञानोत्पत्ति के साधनों को उपलब्ध कराकर गतार्थ हो जाते हैं। किन्तु जिस प्रकार भोजन बनाना चाहे जितना भी कठिन क्यों न हो भूख की निवृत्ति का एकमात्र उपाय होने के कारण कठिन या सरल कहकर नहीं टाला जा सकता है उसी प्रकार ज्ञानमार्ग एकमात्र मोक्षोपाय होने से कठिनता का प्रश्न नहीं उठना चाहिए। इस मुक्ति-मार्ग के प्रदर्शन के लिए माध्यम के रूप में गुरु की नितान्त आवश्यकता होती है। इस जीवन को सँवारने की प्रक्रिया में गुरु का विशेष स्थान है। क्योंकि दृष्टिफल के लिए गुरु ही पथिक को श्रवणादि साधनों को बताकर इस हेतु प्रवृत्त करेगा व प्रत्येक शिष्य के संस्कारानुसार उसके लिए विशेष मार्ग का प्रतिपादन कर सकेगा। अतः गुरु-शरण के अभाव में निवृत्तिमार्ग बिना पेंदी के लोटे सदृश हो जायेगा। शङ्कराचार्य के अनुसार ज्ञानमार्ग में ईश्वर व गुरु अभिन्न होते हैं अर्थात् गुरुरूप में साक्षात् परंब्रह्म ही जीव की मुक्ति कराता है।

इस प्रकार ''उपदेशसाहस्री'' मोक्षमार्ग के किसी भी पथिक के

लिए दृढ सम्बल है। ग्रन्थ को विचारपूर्वक समझकर एवं तदनुकूल साधना करने से साधक निश्चित ही अपने लक्ष्य पर पहुँच सकता है। सर्वज्ञ शङ्कर की भाषा इतनी सरल व व्यावहारिक है कि कल्याण हुए बिना रह ही नहीं सकता। महान् विचारक के रूप में शङ्कराचार्य भारत के अस्तित्व की महत्त्वपूर्ण क्षमता के द्योतक हैं और यह भारत के एक जीवन्त राष्ट्र के पद पर विराजमान होने का स्पष्ट प्रमाण है। उनके ग्रन्थों का प्रकाश जन-जन तक पहुँचने से यह राष्ट्र पुनः अनन्त की ऊँचाइयों तक उठकर अपनी सर्वोपरि श्रेष्ठता के आयामों को स्थिर रखने में अतीव समर्थ होगा।

卐 परिशिष्ट 卐

सहायक ग्रन्थ सूची

ॐ सहायक ग्रन्थ सूची ॐ

अद्वैत वेदान्त	प्रो0 राममूर्ति शर्मा	इस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली।
अपरोक्षानुभूति	तारिणीश झा	सरस्वती प्रकाशन, इलाहाबाद।
अष्टादश उपनिषद्	लिमये और वाडेकर पुण्यपत्तनम्।	वैदिक संशोधनमण्डलम्
आदि शङ्कराचार्य (जीवन और दर्शन)	जयराम मिश्र	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
आचार्य शङ्करः ब्रह्मवाद	डा० रामस्वरूप सिंह नौलखा	आचार्य नगर, कानपुर।
आचार्य शङ्कर	स्वामी अपूर्वानन्द	रामकृष्ण मठ, नागपुर।
ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य (चतुःसूत्री)	डा० रमाकान्त त्रिपाठी	उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य	सत्यानन्दी दीपिका	गोविन्दमठ टेढ़ी नीम, वाराणसी।
भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग-एक)	डा० एस.एन. दासगुप्ता	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग-दो)	डा० एस.एन. दासगुप्ता	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
भारतीय दर्शन की रूपरेखा	आचार्य बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा ओरियन्टलिया, वाराणसी।
भारतीय दर्शन की रूपरेखा	प्रो० हिरियन्ना	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
भारतीय दर्शन (भाग-एक)	डॉ० राधाकृष्णन्	राजपाल एण्ड सन्स्, दिल्ली।
भारतीय दर्शन (भाग-दो)	डॉ० राधाकृष्णन्	राजपाल एण्ड सन्स्, दिल्ली।
भारतीय दर्शन की रूपरेखा	प्रो० हरेन्द्र प्रताप सिन्हा	नरेन्द्र प्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली।
माण्डूक्योपनिषद्	गौडपादीय कारिका तथा शाङ्करभाष्य	गीता प्रेस, गोरखपुर।
पञ्चदशी	रामावतार विद्याभाष्कर	चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
शङ्कर ग्रन्थावली	पं0 गङ्गा प्रसाद उपाध्याय	वाणी विलास प्रेस
सिद्धान्तलेशसंग्रहः	श्रीजीवानन्द विद्यासागर	श्री जी मुद्रणालय, वाराणसी
शाङ्करभाष्यालोचन	पं० गङ्गाप्रसाद उपाध्याय	कला प्रेस, प्रयाग।

शाङ्करविजय	आनन्दगिरि	Asiatic Society of Bengal
शाङ्करवेदान्ते तत्त्वमीमांसा	डॉ० के०पी० सिन्हा	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
शङ्कराचार्य विरचित ग्रन्थ संग्रह	रघुनाथ भागवत्	Ashtekar & Co., Poona.
श्री शंकरदिग्विजय	माधवाचार्य	महन्त नरोत्तम गिरि, हरिद्वार।
सर्वदर्शनसंग्रह	माधवाचार्य	प्रो. उमाशंकर शर्मा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
शङ्कराचार्य	प्रो० राममूर्ति शर्मा	ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली।
सिद्धान्त बिन्दुः	मधुसूदन सरस्वती	अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी।
शतश्लोकी	आनन्दगिरि टीका	महेश अनुसंधान संस्थान, वाराणासी।
श्रीमद्भगवद्गीता शाङ्करभाष्य	शङ्कराचार्य	गीताप्रेस, गोरखपुर।
उपदेशसाहस्री	डॉ० चमनलाल गौतम	संस्कृति संस्थान, ख्वाजा-कुतुब वेदनगर, बरेली।
उपदेशसाहस्री	आनन्दगिरि टीका	आनन्द कानन प्रेस टेढ़ी नीम, वाराणसी।
उपदेशसाहस्री (पद्यभाग एवं गद्य भाग)	श्रीमद् रामतीर्थ	निर्णयसागर प्रेस, वाराणसी।
वेदान्तसार	डॉ० सन्तनारायण श्रीवास्तव	सुदर्शन प्रकाशन, इलाहाबाद।
वेदान्तसार	प्रो० राममूर्ति शर्मा	नेशनल पब्लिशिंग हाउस
संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास	डॉ० सूर्यकान्त	ओरिएण्ट लाँगमैन लिमिटेड नई दिल्ली।
वेदान्त परिभाषा	डॉ० गजानन शास्त्री मुसलगांवकर	श्री जी मुद्रणालय, वाराणसी।
विवेकचूड़ामणि	शङ्कराचार्य	गीताप्रेस, गोरखपुर।

★★★★